शांति के अन्वेषक
नोबेल शांति पुरस्कार

लेखक : नैथन आसेंग

हिंदी : योगेश





शांति के अन्वेषक
नोबेल शांति पुरस्कार

लेखक : नैथन आसेंग

हिंदी : योगेश

विषय-सूची



परिचय

यदि आप ऐसे सज्जन लोगों पर लिखी कोई पुस्तक ढूँढ़ रहे थे जिन्हें उनके उदात्त स्वभाव के कारण हर कोई प्यार करता है और सराहता है, तो आप गलत जगह आ गए हैं। इसके बजाय उन व्यक्तियों से मिलने के लिए तैयार हो जाइए जिन्हें सार्वजनिक रूप से "सबसे ख़तरनाक महिला," "सबसे कुख्यात झूठा," और "सबसे निर्लज्ज गद्दार" कहा गया है—और निजी तौर पर उनसे भी कहीं बदतर नामों से पुकारा गया है।

ऐसे लोगों से मिलने के लिए तैयार हो जाइए जिन्हें कभी दुनिया के सर्वोच्च सम्मानों में से एक से सम्मानित किया गया, लेकिन उसी सम्मान के दिए जाने की संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ जैसे भिन्न-भिन्न देशों के अधिकारियों ने "अपमान" कहकर निंदा की। और यदि यह सब पर्याप्त न लगे, तो यह भी सोचिए कि यह विशेष पुरस्कार उस व्यक्ति द्वारा वित्तपोषित किया गया था, जिसके आविष्कार ने अरबों डॉलर की संपत्ति को उड़ा दिया है और अनगिनत लाखों लोगों की जान ले ली है।

आख़िर इन लोगों ने ऐसा कौन-सा भयानक काम किया था कि उन्हें इतना तिरस्कार और घृणा झेलनी पड़ी—उनकी बदनामी की गई, उन पर शारीरिक हमले हुए, उन्हें जेल में डाला गया, यहाँ तक कि यातनाएँ दी गईं और मार भी डाला गया?

उत्तर है: शांति।

हमारे सामने जो पहेली है, वह अब तक गढ़ी गई किसी भी दिमाग़ी पहेली से कहीं अधिक कठिन है। हम ऐसे संसार में रहते हैं जहाँ शांति लगभग हर किसी की इच्छा-सूची में सबसे ऊपर है, फिर भी उसी सपने को साकार कर ने का प्रयत्न करने वालों में से कुछ पर सबसे ज़हरीली नफ़रत उँडेली जाती है। शांति एक दुर्लभ लक्ष्य है, और उसके लिए प्रयत्न करना चरम निराशा का कारण बन सकता है।

नोबेल शांति पुरस्कार का जन्म भी निराशा से ही हुआ। स्वीडन के वैज्ञानिक अल्फ्रेड नोबेल, जिन्होंने डायनामाइट का आविष्कार किया, ने एक बार आशा व्यक्त की थी कि उनके भयानक नए विस्फोटक दुनिया को हमेशा के लिए युद्ध त्यागने पर मजबूर कर देंगे। डायनामाइट उन्हें इतनी भयावह मारक शक्ति लगा था कि उन्होंने सोचा था कि कोई भी इसे हथियार के रूप में इस्तेमाल करने का साहस नहीं करेगा। हालाँकि वे उन विश्व युद्धों को देखने के लिए जीवित नहीं रहे जिन्होंने उनकी इस धारणा को राख कर दिया, फिर भी नोबेल यह समझने लगे थे कि भय के सहारे शांति टिक नहीं सकती और भयानक युद्ध अपरिहार्य हैं। उनके आविष्कारों ने सामूहिक हत्याओं को असंभव नहीं बनाया; बल्कि उन्हें और आसान बना दिया।

राष्ट्र बड़े पैमाने पर जीवन नष्ट करने की शक्ति के लिए भारी कीमत चुकाने को तैयार थे, और अल्फ्रेड नोबेल अत्यंत धनी व्यक्ति बन गए। अपने जीवन के अंत में, अपराध-बोध से ग्रस्त नोबेल ने स्थिति से जो कुछ बचाया जा सकता था, उसे बचाने का प्रयास किया—डायनामाइट से कमाए गए धन का उपयोग जीवन को बढ़ावा देने के लिए करने का, न कि उसे नष्ट करने के लिए। उनकी वसीयत में यह कहा गया कि उस धन के निवेश से होने वाला लाभ पाँच वार्षिक पुरस्कारों के लिए इस्तेमाल किया जाएगा। इनमें से चार पुरस्कार पिछले वर्ष के दौरान रसायन विज्ञान, भौतिकी, जीव-विज्ञान या चिकित्सा, और साहित्य के क्षेत्रों में सबसे अधिक योगदान देने वालों को दिए जाने थे। पाँचवाँ—नोबेल शांति पुरस्कार—उस व्यक्ति या व्यक्तियों को दिया जाना था जिन्होंने शांति के उद्देश्य को सबसे अधिक आगे बढ़ाया हो।

शांति की चुनौती

कई प्रकार के लोगों ने, अनेक अलग-अलग कारणों से, नोबेल शांति पुरस्कार जीता है। यह मायने नहीं रखता कि वे कहाँ से हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका, पोलैंड, आयरलैंड, दक्षिण अफ्रीका, जर्मनी, या सोवियत संघ—या वे जीविका के लिए क्या करते हैं। अंतरात्मा की लौ सामाजिक सुधारक में उतनी ही तेज़ी से जल सकती है जितनी किसी इलेक्ट्रीशियन में; किसी वैज्ञानिक में जितनी किसी उपदेशक में; किसी आर्चबिशप में जितनी किसी गृहिणी में।



इस पुस्तक में वर्णित नौ व्यक्तियों को इसलिए चुना गया है क्योंकि वे उस विडंबना को सबसे अच्छे ढंग से दर्शाते हैं कि शांति को दुनिया पर बस चाह कर थोपा नहीं जा सकता; उसके लिए संघर्ष करना पड़ता है। ये वे योद्धा थे जो अलख जगाने और व्यापक रूप से स्वीकृत धारणाओं को चुनौती देने में विश्वास रखते थे। बिगड़े हुए पंखों को सहलाने के बजाय, वे शांति के दुश्मनों के सामने डटकर खड़े हुए और शब्दों, मार्चों और प्रदर्शनों से उन पर प्रहार किया। जब अपने लक्ष्यों के रास्ते में खड़ी सरकारों की कार्रवाई या निष्क्रियता इन प्रतिबद्ध पुरुषों और महिलाओं के प्रयासों के आड़े आई, तो उन्होंने उनका विरोध करने का साहस किया। जब जनमत की लहरें उनके विरुद्ध मुड़ गईं, तब वे अकेले ही संघर्ष करते रहे।

क्या इन लोगों ने वास्तव में कुछ हासिल किया है, या फिर नोबेल शांति पुरस्कार केवल अच्छी नीयत के लिए पीठ थपथपाने भर का सम्मान है? कुछ पुरस्कार-विजेताओं के प्रयास—जैसे लेक वालेसा का श्रमिक आंदोलन—केवल अस्थायी विजय जैसे प्रतीत होते हैं। अन्य, जैसे लिनस पॉलिंग द्वारा परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि के लिए किए गए प्रयास और मार्टिन लूथर किंग जूनियर द्वारा अल्पसंख्यकों की स्थिति सुधारने का कार्य, अधिक स्थायी प्रभाव छोड़ गए हैं। फिर भी, नोबेल पुरस्कार विजेताओं में से सबसे प्रभावशाली लोगों ने भी हमें शांति के मार्ग पर केवल बहुत थोड़ी दूरी तक ही पहुँचाया है। संयुक्त राज्य अमेरिका में आज भी भेदभाव मौजूद है, और दक्षिण अफ्रीका में अश्वेतों को अपने द्वितीय श्रेणी के दर्जे से कभी मुक्ति मिल पाने की आशा बहुत कम दिखती है। पोलैंड का ट्रेड यूनियन आंदोलन मानो भंग कर दिया गया है, और आज जितने परमाणु हथियार तैयार और तैनात हैं, उतने तब नहीं थे जब पॉलिंग उनके ख़तरों की चेतावनी दे रहे थे।

तो नोबेल के शांति पुरस्कार का परिणाम क्या रहा है? निराशा—और और भी अधिक निराशा। नोबेल शांति पुरस्कार पाने वाले लोग जानते हैं कि वे किन शक्तियों से जूझ रहे हैं, फिर भी वे शांति के लिए संघर्ष जारी रखते हैं, क्योंकि उन्हें कोई और विकल्प दिखाई नहीं देता। वे जानते हैं कि बिना परिवर्तन के शांति संभव नहीं, और परिवर्तन कभी भी पुराने ढाँचों के पीड़ादायक बलिदान के बिना नहीं आता। उनके प्रयास पूर्ण नहीं हैं, उनकी विधियाँ कभी-कभी विवादास्पद होती हैं, और उनकी सफलताएँ बहुत कम; फिर भी उनके विरोध और चुनौतियों की कहानियाँ जीवित रहती हैं और दूसरों को इस विराट कार्य में लगे रहने, एक बेहतर दुनिया की आशा को थामे रखने के लिए प्रेरित करती हैं।





शांति के लिए नोबेल पदक। आगे (बाएँ) अल्फ्रेड नोबेल की प्रतिमा है, और पीछे (दाएँ) भाईचारे के बंधनों का प्रतीकात्मक उत्कीर्णन है।



1

जेन ऐडम्स

बनाम महान साहसिकता

20वीं शताब्दी की शुरुआत में यूरोपीय राष्ट्रों के बीच सत्ता के लिए तीव्र प्रतिस्पर्धा थी। हथियारों का भंडार जमा करने में भारी धन खर्च करते हुए, देश अपनी सैन्य क्षमताओं को निखारने पर गर्व करते थे। युद्ध की धमकियाँ बिना किसी विशेष घबराहट के दी और ली जाती थीं; ऐसी धमकियाँ कूटनीति चलाने का स्वीकृत तरीका थीं। वे ऐसे निश्चिंत युवकों की तरह थे जो नदी में डोंगी चलाते हुए अपनी प्रगति के रोमांच में इतने डूबे हों कि यह देख ही न पाएँ कि धारा उन्हें एक घातक जलप्रपात की ओर खींच रही है। अंततः, गंभीरता से लिए जाने के लिए धमकियों के कार्यान्वयन का सहारा लेना ही पड़ा।

जब 1914 में अंततः युद्ध की घोषणा हुई, तो बहुत से लोगों ने भय या आघात के बजाय उत्साह से प्रतिक्रिया दी। इतिहासकार उस रोमानी आनंद की बात करते हैं जो उस युद्ध की शुरुआत के साथ जुड़ा था, जिसे आगे चलकर प्रथम विश्व युद्ध कहा गया। यह भावना थी कि यह एक महान साहसिकता है—दुनिया को यह दिखाने का अवसर कि आपका देश क्या कर सकता है। दोनों पक्षों के लोगों को लगता था कि उनकी सेनाएँ तत्कालीन सभ्य समाज के सर्वोच्च मूल्यों—अनुशासन, पुरुषार्थ, देशभक्ति और न्याय—का प्रतिनिधित्व करती हैं।

युद्ध-समर्थक भावना इतनी प्रबल थी कि जो लोग कोई भिन्न दृष्टिकोण व्यक्त करना चाहते थे, वे ऐसा अपने जोखिम पर ही करते थे। जेन ऐडम्स उन लोगों द्वारा शांति की तलाश में चुकाई जाने वाली भारी कीमत का एक प्रमुख उदाहरण थीं। कई वर्षों तक, सामाजिक कार्यों के प्रति उनके निःस्वार्थ समर्पण के कारण, ऐडम्स दुनिया की सबसे प्रशंसित महिलाओं में से एक रहीं।

जेन ऐडम्स (दाएँ) ने उस समय शांति का परचम उठाया, जब यह एक अत्यंत अलोकप्रिय उद्देश्य था।

छह वर्ष की आयु में जेन ऐडम्स



वे जिन उद्देश्यों में विश्वास करती थीं, उनके लिए खड़े होने से कभी डरती नहीं थीं। विडंबना यह रही कि जिस गुण ने ऐडम्स को इतनी लोकप्रियता दिलाई थी, वही अंततः उन्हें उनके ऊँचे आसन से गिरा गया, जब उन्होंने युद्ध के विरुद्ध बोलने का साहस किया।

यद्यपि 1862 में, जब उनकी माँ का देहांत हुआ, तब ऐडम्स केवल दो वर्ष की थीं, फिर भी उनका बचपन एक समृद्ध और अत्यंत शिक्षित परिवार में बहुत सुखद बीता। जेन ऐडम्स ने न तो विवाह किया और न ही उनका अपना कोई परिवार था। लंदन में गरीबों की दयनीय स्थिति को देखकर और इंग्लैंड में चल रहे सुधार प्रयासों से परिचित होकर, उन्होंने मानवता को ही अपना परिवार बना लिया।

1889 में, 29 वर्ष की आयु में, ऐडम्स ने **हल हाउस** की स्थापना की—एक ऐसा संगठन जिसने शिकागो में हज़ारों गरीब प्रवासियों को संस्कृति, मित्रता, आत्मसम्मान, और अनेक सामाजिक व नागरिक अवसर प्रदान किए। उन्होंने बाल श्रम कानून, महिलाओं के लिए आठ घंटे के कार्यदिवस, और पहली किशोर न्याय अदालतों जैसे सामाजिक सुधारों के लिए भी अथक परिश्रम किया। लोगों के जीवन को बेहतर बनाने के अपने प्रयासों में ऐडम्स किसी भी काम से पीछे नहीं हटीं। स्वभाव से सुसंस्कृत और कोमल होते हुए भी, उन्होंने शिकागो के 19वें वार्ड की कचरा निरीक्षक का पद तक स्वीकार किया।

विश्व-प्रसिद्ध हल हाउस ने ऐडम्स को व्यापक प्रशंसा दिलाई, और बहुत से लोग उन्हें इस बात का आदर्श मानते थे कि एक महिला कैसी होनी चाहिए। उदारता, स्वतंत्रता, क्षमता और सौम्यता का उनका मेल उन्हें सार्वभौमिक सम्मान दिलाता था। लेकिन नोबेल शांति पुरस्कार उन्हें उनके प्रभावशाली सामाजिक कार्यों के लिए नहीं मिला। यह पुरस्कार उन शक्तियों के विरुद्ध उनके संघर्ष का प्रतिफल था जिन्होंने प्रथम विश्व युद्ध को जन्म दिया और उसे लंबा खींचा।

शांति में महिलाओं की भूमिका

यह स्वाभाविक ही था कि ऐडम्स शांति संगठनों की सक्रिय सदस्य बनें; उनका विश्वास था कि जीवन में उनका ध्येय मानवीय जीवन के पोषण के माध्यम से शांति लाना है। 1907 में प्रकाशित अपनी पुस्तक **न्यूअर आइडियल्स ऑफ़ पीस** में, ऐडम्स ने इस कार्य में महिलाओं की विशेष भूमिका का वर्णन किया।

उनका विश्वास था कि महिलाओं में एक **पोषक (संरक्षणकारी) प्रवृत्ति** होती है, जो उन्हें शांति की रक्षा करने की क्षमता और जिम्मेदारी दोनों देती है। उनके अनुसार, दुनिया से अभाव और कमी को समाप्त करके, लोगों को विकसित होने में सहायता देकर और उनकी स्वतंत्रता सुनिश्चित करके ही शांति प्राप्त की जा सकती है।

प्रथम विश्व युद्ध शुरू होने के कुछ ही समय बाद कई यूरोपीय यह समझने लगे कि युद्ध उतना गौरवशाली नहीं है जितना उन्होंने सोचा था। हथियारों में हुई प्रगति के साथ, यह युद्ध केवल क्रूर और निरर्थक नरसंहार बनकर रह गया, जिसमें दुश्मन की ज़मीन के कुछ ही मील हासिल करने के व्यर्थ प्रयासों में सैकड़ों हज़ारों युवा पुरुषों की बलि चढ़ा दी गई।

यूरोप में लोगों के छोटे-छोटे समूह—अधिकतर महिलाएँ— इस विध्वंस को समाप्त करने के प्रयास में संगठित होने लगे। जब वे अपने ही नेताओं को समझाने में असफल रहीं, तो उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर रुख किया, इस आशा में कि इस प्रभावशाली देश में—जो तब तक युद्ध में शामिल नहीं हुआ था—कोई ऐसा होगा जो यूरोपीय देशों पर लड़ाई रोकने का दबाव डाल सके।

जेन ऐडम्स और शांति का समर्थन करने वाली अन्य महिलाओं ने यूरोपियों की इस अपील पर प्रतिक्रिया देते हुए 10 जनवरी 1915 को वॉशिंगटन डी.सी. में, पूरे संयुक्त राज्य अमेरिका से महिला संगठनों का एक सम्मेलन बुलाया।



ऐडम्स ने शिकागो के एक उपेक्षित क्षेत्र में हल हाउस (यहाँ 1915 की तस्वीर में दिखाया गया है) की स्थापना की थी।

वॉशिंगटन में एकत्र हुई 3,000 महिलाओं ने एक राष्ट्रीय संगठन बनाया, जिसे उन्होंने **वूमेन्स पीस पार्टी** नाम दिया, और जेन ऐडम्स को इसकी अध्यक्ष चुना। यूरोप में फैली अव्यवस्था के शांतिपूर्ण समाधान के लिए उनके कई सुझाव स्वयं जेन ऐडम्स के व्यक्तित्व से प्रेरित प्रतीत होते थे। उन्होंने युद्ध समाप्त करने के लिए निरंतर मध्यस्थता की व्यवस्था स्थापित करने हेतु धैर्य, कठोर परिश्रम और समझदारी का आह्वान किया। उनका कहना था कि अर्थशास्त्र, बंदूकों की तुलना में कहीं अधिक प्रभावी कूटनीति है, और युद्धप्रिय राष्ट्रों के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंधों का उनका सुझाव आगे चलकर विश्व-भर में स्वीकृत नीति बन गया। वूमेन्स पीस पार्टी ने युद्ध के आर्थिक कारणों को हटाने और युवाओं को शांति के आदर्शों में शिक्षित करने की भी माँग की। इसके बाद ऐडम्स अटलांटिक महासागर पार कर यूरोपीय शांति नेताओं से मिलने गईं। उनकी बैठकों का परिणाम यह निर्णय था कि वे अपने शांति प्रस्तावों को तटस्थ तथा युद्धरत—दोनों प्रकार के देशों के राष्ट्राध्यक्षों तक पहुँचाएँगी।



ऐडम्स (आगे, बाएँ से दूसरी) और पीस पार्टी की अन्य सदस्य 1915 में यूरोप में हुए शांति सम्मेलन के लिए उन्हें ले जाने वाले जहाज़ के मस्तूल पर फहराए गए बैनर के साथ खड़ी हैं।



शांति आंदोलन से जुड़ने से पहले जेन ऐडम्स को नारीत्व का आदर्श उदाहरण माना जाता था।

इस योजना को लेकर ऐडम्स बहुत उत्साहित नहीं थीं। उनका व्यावहारिक स्वभाव उन्हें बताता था कि इन बैठकों से कुछ खास लाभ होने की संभावना बहुत कम है, फिर भी वे मानती थीं कि प्रयास तो किया ही जाना चाहिए। यद्यपि कई सरकारी नेता महिलाओं के प्रयासों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण और आभारी थे, फिर भी किसी ने भी सहायता के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया। हर कोई इस डर से किसी भी प्रकार की बातचीत का आह्वान करने से हिचक रहा था कि कहीं वह कमज़ोर न दिखाई दे।

यूरोप से लौटने के बाद, ऐडम्स ने अपना ध्यान संयुक्त राज्य अमेरिका पर केंद्रित किया। कई बार टलने के बाद, राष्ट्रपति वुडरो विल्सन से मिलने की उनकी विनम्र लेकिन दृढ़ माँग अंततः स्वीकार कर ली गई। ऐडम्स ने तर्क दिया कि संयुक्त राज्य को तटस्थ राष्ट्रों के एक सम्मेलन में नेतृत्व की भूमिका निभानी चाहिए, जो यूरोप को शांति की ओर मोड़ सके। विल्सन उनकी प्रस्तुति से प्रभावित तो हुए, लेकिन उनकी सलाह को नज़रअंदाज़ कर दिया। अमेरिका, यूरोपीय देशों की तरह, कमज़ोर दिखाई नहीं देना चाहता था। राष्ट्रपति के सलाहकारों को डर था कि यदि अमेरिका ने शांति की भूमिका निभाने का प्रयास किया और वह असफल रहा, तो उसका वैश्विक प्रभाव घट जाएगा। जब 1917 में अमेरिका ने न केवल शांति वार्ताओं में शामिल होने से इनकार किया, बल्कि स्वयं युद्ध में कूद पड़ा, तो ऐडम्स को गहरा आघात पहुँचा।

संत से गद्दार तक

इस मोड़ पर, ऐडम्स शांति के लिए संघर्ष से गरिमापूर्ण पराजय स्वीकार कर सेवानिवृत्त हो सकती थीं। यद्यपि कुछ लोगों को यूरोपीय राष्ट्राध्यक्षों से याचना करने में उनकी भागीदारी भोलापन लगती थी, फिर भी उनकी प्रतिष्ठा मूलतः सुरक्षित थी। वे केवल उन अनेक अमेरिकियों में से एक थीं जिन्होंने युद्ध में प्रवेश का विरोध किया था। किंतु एक बार लड़ने का निर्णय हो जाने पर, अमेरिकी सरकार ने नागरिकों की देशभक्ति का आह्वान किया और उन्हें अपने मतभेद भुलाकर युद्ध प्रयास के समर्थन में एकजुट होने के लिए मना लिया।



संयुक्त राज्य के प्रथम विश्व युद्ध में शामिल होने के बाद, जो लोग इस तरह के आहवानों पर उत्साहपूर्वक एकजुट नहीं हुए, उन्हें गद्दार माना गया।

लेकिन ऐडम्स, जो हमेशा समझौते में कुशल रही थीं, इस बार समझौता करने को तैयार नहीं हुईं।

जेन ऐडम्स का मानना था कि युद्ध गलत है, और वे विशेष रूप से इस विचार को चुनौती देती थीं कि युद्ध कोई गौरवशाली और देशभक्तिपूर्ण घटना है। अपने देश से प्रेम दिखाने का इससे बेहतर तरीका होना चाहिए कि कोई खाई में मर जाए। वे जितना अधिक इस प्रकार की बातें कहतीं—जैसे "सैनिकों को युद्ध पसंद नहीं होता"—उन पर हमले उतने ही उग्र होते गए।

पूर्व राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट, जो स्वयं नोबेल शांति पुरस्कार के प्राप्तकर्ता और कभी ऐडम्स के मित्र थे, ने उन्हें "एक मूर्ख, आत्ममुग्ध बूढ़ी कुंवारी" कहा। देश भर के अख़बारों में छपे संपादकीय उनसे भी अधिक कटुतापूर्ण थे।

अचानक, जिस महिला को कभी "अब तक की सबसे महान अमेरिकी" कहा गया था, वह स्वयं को लगभग मित्रहीन और समर्थनरहित पाती हैं। कुछ वर्ष पहले तक, वक्ता केवल उनका नाम लेकर ही तालियों की गड़गड़ाहट सुनिश्चित कर लेते थे; अब जेन ऐडम्स का नाम सुनते ही हूटिंग होने लगती थी। जिन संगठनों को कभी ऐडम्स से जुड़ने पर गर्व था, उन्होंने अब उनसे नाता तोड़ लिया; **डॉटर्स ऑफ़ द अमेरिकन रेवोल्यूशन** ने उन्हें अपने संगठन से निकाल दिया। घृणास्पद पत्रों की बाढ़ उनके घर आने लगी और क्रोधित राजनेताओं ने उन्हें देश का शत्रु कहा। 1917 की रूसी साम्यवादी क्रांति के बाद जब लोगों में साम्यवाद का भय बढ़ा, तो ऐडम्स को अक्सर साम्यवाद की समर्थक बताया जाने लगा। उनका नाम उन लोगों का प्रतीक बन गया जो अमेरिकी सरकार को उखाड़ फेंकना चाहते थे।
यहाँ तक कि जेन ऐडम्स जैसी दृढ़ महिला के लिए भी ऐसे हमलों को सहना कठिन हो गया। उन्होंने एक बार टिप्पणी की थी कि जनमत की लहर के विरुद्ध अपने विश्वासों को थामे रखना लगभग असंभव सा लगता है। सौभाग्य से, उन्हें अपनी ऊर्जा के लिए एक ऐसा मार्ग मिला जिससे वे सरकार और शांति—दोनों के उद्देश्य की एक साथ सेवा कर सकती थीं। वे हर्बर्ट हूवर की **यू.एस. फ़ूड एडमिनिस्ट्रेशन** से जुड़ गईं और युद्धग्रस्त देशों के तबाह लोगों तक भोजन और अन्य आवश्यक वस्तुएँ पहुँचाने के कार्य में लग गईं।

जब 1918 में युद्ध समाप्त हुआ, तो ऐडम्स ने यूरोप में व्यापक भुखमरी को रोकने के लिए अंतरराष्ट्रीय सहयोग का आग्रह किया। यह बात अधिकांश अमेरिकियों को तब तक स्वीकार्य लगी, जब तक उन्होंने अपने प्रयासों में शत्रु—जर्मनों—को भी शामिल नहीं किया। जर्मनी के भूखे बच्चों के लिए भोजन जुटाने हेतु दो वर्ष तक धन एकत्र करने के बाद, और फिर वॉरसा संधि (युद्ध के अंत में जर्मनी द्वारा हस्ताक्षरित समझौते) की कमियों के बारे में चेतावनी देने पर, ऐडम्स को गद्दार कहा गया और देश की "सबसे ख़तरनाक महिला" करार दिया गया।

युद्ध के परिणाम

जेन ऐडम्स और उनके जैसे लोगों की बातों को नज़रअंदाज़ करने के परिणाम विनाशकारी सिद्ध हुए। चार वर्षों के युद्ध में 85 लाख सैनिक मारे गए, कुल 3 करोड़ 75 लाख हताहत हुए, और हासिल कुछ भी नहीं हुआ। केवल सोम की लड़ाई में ही फ्रांसीसी और अंग्रेज़ सेनाएँ लगभग सात मील आगे बढ़ीं, जिसकी कीमत पांच लाख से अधिक हताहतों के रूप में चुकानी पड़ी। इस युद्ध से पैदा हुई पीड़ा 1918 में समाप्त नहीं हुई; वॉरसा संधि में जिन समस्याओं की ऐडम्स ने आशंका जताई थी, उन्होंने बीस वर्ष बाद एक और भी बड़े तथा अधिक भयानक युद्ध की नींव रख दी।

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में ही ऐडम्स के शांति-प्रचार के प्रयासों को मान्यता मिली।



जेन ऐडम्स 1929 तक **वूमेन्स इंटरनेशनल लीग फ़ॉर पीस एंड फ़्रीडम** की अध्यक्ष के रूप में शांति के उद्देश्य की सेवा करती रहीं। यद्यपि 1920 में ही उन्हें नोबेल शांति पुरस्कार के लिए नामित किया गया था, परंतु एक दशक से अधिक समय तक यह सम्मान उन्हें नहीं मिला। धीरे-धीरे, संदेह के आवरण के नीचे दबे इस अपमानित सामाजिक कार्यकर्ता के विशाल योगदान और उदात्त चरित्र की पहचान उभरने लगी। अपनी मृत्यु से चार वर्ष पहले, शांति के सिद्धांत को फैलाने के उनके प्रयासों को अंततः 1931 के नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया।



2

कार्ल फ़ॉन ओसिएत्स्की

बनाम उन्माद में डूबा राष्ट्र

जो लोग शांति के लिए काम करते हैं, वे इस आशा को थामे रहते हैं कि सबसे क्रूर और भ्रष्ट नेता के भीतर भी कहीं न कहीं ऐसी अंतरात्मा होती है, जिसे तर्कपूर्ण आवाज़ों से झकझोरा जा सकता है। लेकिन कार्ल फ़ॉन ओसिएत्स्की को नाज़ी जर्मनी से अपने व्यवहार में यह आशा भी नहीं मिली, क्योंकि 1930 के शुरुआती वर्षों तक उस सरकार की घृणित नीतियाँ उन्माद की हद तक पहुँच चुकी थीं। उस समय बहुतों को लगता था कि ओसिएत्स्की स्वयं ही पागल होंगे, जो नाज़ी आतंक की भयानक शक्ति के विरुद्ध अकेले खड़े होने का साहस कर रहे थे। यदि एडॉल्फ़ हिटलर के निर्दय नेतृत्व में नाज़ी बिना किसी पश्चाताप के लाखों निर्दोष लोगों की हत्या कर सकते थे, तो उस एक अकेले व्यक्ति के साथ क्या करेंगे जो उनके सामने खड़े होकर उन्हें चुनौती देने का दुस्साहस करता?

जर्मनों की एक भीड़ एडॉल्फ़ हिटलर (बाएँ से सातवें) के साथ नाज़ी दल के प्रतीक स्वस्तिक को सलामी देती हुई।

एडॉल्फ़ हिटलर के सत्ता में उदय के बीज उसी महान "सभी युद्धों को समाप्त करने वाले युद्ध" में बोए गए थे, जिसे जेन ऐडम्स रोकने का प्रयास कर रही थीं। लड़ाई समाप्त हुए केवल कुछ ही वर्षों में यह स्पष्ट हो गया कि लोगों ने प्रथम विश्व युद्ध की तबाही से कुछ भी नहीं सीखा। वॉरसॉ संधि द्वारा जर्मनी पर थोपा गया कठोर दंड उस देश को भविष्य के सैन्य अभियानों से रोकने में विफल रहा। अधिकांश जर्मनों का मानना था कि उनकी सेना पराजित नहीं हुई थी और उन्हें लगता था कि उनकी सरकार को इस अनुचित संधि की शर्तें स्वीकार नहीं करनी चाहिए थीं। कटुता और विश्वासघात की भावनाओं ने उनकी युद्ध की पीड़ा पर पर्दा डाल दिया, और मृतकों के दफनाए जाने से पहले ही सैन्यवाद फिर से उभरने लगा।

अपमानित जर्मन, जो बदला चाहते थे, अपनी सुव्यवस्थित और शक्तिशाली सेना की पुनर्स्थापना के लिए तरस रहे थे।

युद्ध का प्रभाव कार्ल फ़ॉन ओसिएत्स्की पर बिल्कुल भिन्न पड़ा, जिन्होंने प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी के लिए लड़ाई लड़ी थी। सेना के प्रति सदैव संदेह रखने वाले ओसिएत्स्की को 1914 में सेना के पक्ष में गए एक न्यायालय के निर्णय की आलोचना करने वाला लेक लिखने पर जुर्माना लगाया गया था। जब उन्हें अपने दफ़्तर के काम से हटाकर पैदल सेना में बुलाया गया, तो उन्होंने जो नरसंहार देखा, उससे वे स्तब्ध रह गए। युवकों को मृत शरीरों के ढेर में बदल देने में उन्हें कुछ भी वीरतापूर्ण नहीं लगा। युद्ध समाप्त होते ही कार्ल फ़ॉन ओसिएत्स्की **जर्मन पीस सोसाइटी** से जुड़ गए।

राज्य के लिए एक ख़तरा

तीव्र और समझौता न करने वाले स्वभाव के ओसिएत्स्की को राजनीति की औपचारिकताओं से बहुत कम धैर्य था, और वे शीघ्र ही पीस सोसाइटी के दफ़्तर के काम से ऊब गए। उन्होंने अपनी लेखन क्षमता का उपयोग करते हुए शांति के लिए अपना निजी अभियान छेड़ने का निश्चय किया। विभिन्न पत्रों में लिखने के बाद, ओसिएत्स्की **डी वेल्टब्यूहने** (*द वर्ल्ड स्टेज*) नामक पत्रिका से जुड़ गए। 1926 में वे इसके संपादक बने, जिससे उन्हें यह तय करने की शक्ति मिली कि पत्रिका में क्या प्रकाशित होगा। जर्मन गणराज्य की अंतरात्मा के रूप में जानी जाने वाली *डी वेल्टब्यूहने* ने लोगों को सैन्यवादी दृष्टिकोण त्यागकर शांति अपनाने के लिए प्रेरित करने का प्रयास किया।

कार्ल फ़ॉन ओसिएत्स्की



ओसिएत्स्की ने अहिंसावादी की उस छवि को तोड़ दिया, जिसमें उसे एक नम्र, आज्ञाकारी व्यक्ति माना जाता है जो किसी भी प्रकार के संघर्ष से घृणा करता है। कोमल समझाइश से शांति पाने की बजाय, वे हिंसा का समर्थन करने वालों से सीधी टक्कर लेने निकले। इस पत्रकार ने सार्वजनिक रूप से निष्क्रिय भले-मानसों और “रीढ़विहीन” सरकारी नेताओं को कोसा, जो किसी को नाराज़ किए बिना देश चलाने की कोशिश कर रहे थे। वे उन लोगों का उपहास करते थे जो युद्ध के विरोध को केवल हथियार उठाने से इनकार तक सीमित रखते थे—उनकी दृष्टि में इससे कोई लाभ नहीं होता था।

ओसिएत्स्की ने अपनी **कलम** का उपयोग हिंसा का समर्थन करने वालों पर आक्रामक प्रहार करने के लिए किया। वे उन समूहों या व्यक्तियों की खोज करते थे जो गुप्त रूप से युद्ध की योजनाएँ बना रहे थे और उन्हें उजागर कर देते थे, ताकि वे झूठ और नीतिगत अस्पष्ट बयानों की आड़ में छिप न सकें। ऐसा करने के उनके सबसे अलोकप्रिय तरीकों में से एक था—सरकार द्वारा किए जा रहे **गुप्त पुनःशस्त्रीकरण** पर रिपोर्ट करना।

वॉरसॉ संधि की शर्तों के अनुसार, जर्मनी को अपनी सेना को 1,00,000 सैनिकों तक सीमित रखना था और वह किसी भी प्रकार के आक्रामक हथियार नहीं रख सकता था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी पर शासन करने वाले अस्थिर वाइमर गणराज्य के अपेक्षाकृत उदार नेतृत्व के समय भी, संधि की इन तथा अन्य धाराओं को दरकिनार करने के लिए गुप्त योजनाएँ बनाई जा रही थीं। ओसिएत्स्की अपने जर्मन साथियों की तरह मानते थे कि वॉरसॉ संधि अनुचित और अव्यावहारिक है, लेकिन उनका आग्रह था कि इसकी कमियों को सुधारने और संशोधित करने के लिए **खुले संवाद** और वार्ताएँ हों, न कि एक बार फिर सशस्त्र संघर्ष का सहारा लिया जाए।

डी वेल्टब्यूहने का कार्यभार सँभालने के बाद से ही ओसिएत्स्की जर्मन सरकार के साथ लगातार मुश्किलों में रहे। सरकार उन्हें उनके विवादास्पद विचारों को निडरता से व्यक्त करने के कारण **राज्य के लिए ख़तरा** मानती थी। पहली बार उन्होंने तब सरकार की नाराज़गी झेली, जब उन्होंने एक लेक प्रकाशित किया जिसमें सैन्य नेताओं को अभियोजन से बचाने के लिए सरकारी अधिकारियों की आलोचना की गई थी।

फिर 1927 में *डी वेल्टब्यूहने* में प्रकाशित एक लेक ने सरकार पर आरोप लगाया कि वह वर्दीधारी गुंडों से बने अर्द्धसैनिक संगठनों को संरक्षण दे रही है, जिनका उपयोग राजनीतिक विरोधियों को डराने-धमकाने के लिए किया जाता था। इस लेक के प्रकाशन के कारण उन्हें एक महीने की जेल हुई, फिर भी ओसिएत्स्की ने जर्मन सरकार की आलोचना जारी रखी।

जीवित बचने की कोई आशा नहीं

ओसिएत्स्की की जेल की सज़ा के दो वर्ष बाद, उनकी पत्रिका में एक लेक छपा जिसने जर्मन सरकार द्वारा की जा रही अनेक गुप्त सैन्य गतिविधियों का पर्दाफ़ाश किया। यह लेक एक विमान तकनीशियन द्वारा लिखा गया था और इसमें बताया गया था कि जर्मन पायलटों को सोवियत हवाई अड्डों पर प्रशिक्षण दिया जा रहा था, जर्मन वाणिज्यिक एयरलाइनों को इस तरह संगठित किया जा रहा था कि उन्हें आसानी से एक शक्तिशाली सैन्य वायुसेना में बदला जा सके, और चुपचाप गोला-बारूद कारखाने स्थापित करने की योजनाएँ बनाई जा रही थीं—ये सभी वॉरसॉ संधि का उल्लंघन थे। लेक में परिवहन मंत्रालय की भी तीखी आलोचना की गई थी, जिसने त्वरित हमलों और तेज़ परिवहन पर आधारित एक नई युद्ध रणनीति तैयार की थी।

दुर्भाग्यवश, इस खुलासे का परिणाम ओसिएत्स्की के लिए केवल **और सात महीने की जेल** के रूप में निकला। यूरोप में कूटनीतिक संबंधों को विवाद से खराब न होने देने की इच्छा के कारण, जिन देशों के पास वॉरसॉ संधि को लागू कराने की शक्ति थी, उन्होंने जर्मन पुनःशस्त्रीकरण की इन रिपोर्टों पर कोई कार्रवाई नहीं की।

1931 में, सैनिकों की भूमिका की आलोचना करने वाला एक लेक प्रकाशित करने के कारण पुनः गिरफ़्तार किए जाने के बाद, ओसिएत्स्की ने वाइमर गणराज्य की **कमज़ोरी** के विरुद्ध तीखे शब्दों में अपनी नाराज़गी व्यक्त की।



एडॉल्फ हिटलर ने अपने आपको एक ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया जो जर्मनी को उसकी पुरानी महानता लौटा देगा, लेकिन ओसिएत्स्की ने उसे उस तानाशाह के रूप में पहचाना, जो वह वास्तव में था।

उसे डर था कि जर्मनी पर नियंत्रण स्थापित करने में सरकार की विफलता अधिक सैन्यवादी लोगों के सत्ता में आने का रास्ता खोल देगी। जब ओसिएत्स्की कमजोर सरकार के खतरों की चेतावनी दे रहा था, उसी समय एक और व्यक्ति जर्मन सेना के पुनर्निर्माण और जर्मनी में समृद्धि लौटाने का वादा कर रहा था। जर्मन जनता इस उभरते हुए नए व्यक्ति से प्रभावित हो रही थी, जिसका नाम एडॉल्फ हिटलर था। लेकिन ओसिएत्स्की, जिसने हिटलर को कायर लिखा था, जल्दी ही समझ गया कि इस व्यक्ति में कुछ दुष्ट और खतरनाक है।

ओसिएत्स्की के डर को सच साबित हुए जब जिन सैन्यवादियों के बारे में उसने चेतावनी दी थी, उन्होंने सरकार की कमजोरी का फायदा उठाकर हिटलर को जर्मनी की सत्ता पर काबिज़ होने में मदद की। जैसे-जैसे हिटलर की नाज़ी पार्टी—नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी—की शक्ति बढ़ती गई, ओसिएत्स्की ने अपना हमला पार्टी और *डेर फ़्यूरर* (नेता) पर केंद्रित कर दिया, जैसा कि हिटलर स्वयं को कहलवाने लगा था।

1932 के अंत तक जर्मनी नाज़ियों की सख्त पकड़ में आ चुका था। प्रचार मंत्री जोसेफ़ गोएबेल्स का प्रेस पर पूर्ण नियंत्रण था। संपादकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे वही छापें जो गोएबेल्स चाहता था और उन बातों से दूर रहें जिन्हें उसने प्रतिबंधित किया था। सरकार के हितों के विरुद्ध कुछ भी प्रकाशित करना अपराध घोषित कर दिया गया था।

ऐसे माहौल में ओसिएत्स्की जैसे उग्र और निर्भीक व्यक्ति के जीवित रहने की कोई उम्मीद नहीं थी।

यह नाज़ी प्रचार पोस्टर लोगों को यह विश्वास दिलाने की कोशिश करता था कि जर्मनी की जीत ही यूरोप की आज़ादी है।



ऐसे माहौल में ओसिएत्स्की जैसे उग्र और निर्भीक व्यक्ति के जीवित रहने की कोई आशा नहीं थी। वह विचारों और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बारे में अपने विश्वासों से समझौता करने को तैयार नहीं था। उसके मित्रों ने उसे बहुत देर होने से पहले देश छोड़ देने की सलाह दी, लेकिन ओसिएत्स्की ने मना कर दिया। उसने कहा,
"सीमा के उस पार से उठने वाली आवाज़ खोखली होती है।" वह अपने मातृभूमि में ही रहकर उससे यह माँग करना चाहता था कि उसका देश उसकी बात सुने।

सरकारी रहस्यों को उजागर करने के कारण जेल की सज़ा काटने के बाद, ओसिएत्स्की ने पहले से भी अधिक उत्तेजक लेख प्रकाशित किए। 27 फ़रवरी 1933 को नाज़ियों ने आगज़नी की एक घटना को बहाना बनाकर सभी "राज्य के शत्रुओं" के विरुद्ध दमन शुरू कर दिया। 4,000 से अधिक लेखक, वकील और सरकार के अन्य आलोचक—जिसमें ओसिएत्स्की भी शामिल था—को नाज़ी तूफ़ानी सैनिकों ने उनके घरों से घसीटकर निकाला और बिना किसी मुक़दमे के जेल में डाल दिया।

अंधकार में एक प्रकाश

ओसिएत्स्की को इस शर्त पर रिहा करने की पेशकश की गई कि वह राजनीतिक विषयों पर लिखना बंद कर देगा, लेकिन उसने इस प्रस्ताव पर विचार तक नहीं किया। 50,000 से अधिक जर्मन नागरिकों ने उसकी रिहाई के लिए याचिका पर हस्ताक्षर किए, परंतु उन्हें नज़रअंदाज़ कर दिया गया। अगले पाँच वर्षों तक ओसिएत्स्की को सार्वजनिक जीवन से दूर, यातना शिविरों में छिपाकर रखा गया।

हालाँकि इस पत्रकार का साहस पूरी दुनिया के लोगों को छू गया था। जैसे-जैसे नाज़ियों और उनके तरीकों के बारे में सच्चाई बाहर आने लगी, 21 देशों और नोबेल शांति पुरस्कार के 6 पूर्व विजेताओं ने याचिकाएँ दायर कीं कि "पुरस्कार को एक यातना शिविर में भेजा जाए" और वह ओसिएत्स्की को दिया जाए। इससे पुरस्कार के संरक्षक नॉर्वेजियनों की स्थिति अत्यंत कठिन हो गई। कई लोगों को डर था कि हिटलर के सबसे बड़े शत्रुओं में से एक को पुरस्कार देने से नाज़ी इतने क्रोधित हो सकते हैं कि वे नॉर्वे पर हमला कर दें। अंततः एक बदलाव किया गया, जिसमें यह घोषित किया गया कि नोबेल पुरस्कार समिति के सदस्य सरकार के सदस्य भी नहीं हो सकते।



इस प्रकार 1935 का नोबेल शांति पुरस्कार कार्ल फ़ॉन ओसिएत्स्की को दिया जाना नॉर्वे की विदेश नीति का बयान नहीं माना गया।

हिटलर की सरकार ने तीखी प्रतिक्रिया दी। उसने ओसिएत्स्की को गद्दार बताया और इस पुरस्कार को एक निर्लज्ज अपमान कहा। *डेर फ़्यूरर* ने नोबेल समिति की कार्रवाई का बदला लेते हुए यह घोषणा कर दी कि कोई भी जर्मन नागरिक नोबेल पुरस्कार स्वीकार नहीं कर सकता—यहाँ तक कि विज्ञान और साहित्य के क्षेत्रों में भी नहीं।

लेकिन ओसिएत्स्की ने अंत तक नाज़ियों को चुनौती दी। वर्षों की यातना और एकांतवास ने उसे शारीरिक और मानसिक रूप से तोड़ दिया था, फिर भी उसने पुरस्कार पर अपने अधिकार पर ज़ोर दिया। जर्मन अधिकारियों ने, हालांकि उसे व्यक्तिगत रूप से पुरस्कार स्वीकार करने के लिए देश छोड़ने की अनुमति नहीं दी। शांति और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संघर्ष में ओसिएत्स्की ने अंतिम कीमत चुकाई, जब वह 1938 के बाद कारावास की कठोरता सहन नहीं कर सका और उसकी मृत्यु हो गई।



अन्याय की एक अतिरिक्त परत यह थी कि ओसिएत्स्की के वकील ने उसके पुरस्कार की लगभग पूरी धनराशि का गबन कर लिया।

कार्ल फ़ॉन ओसिएत्स्की उस भयानक परिणाम को देखने के लिए जीवित नहीं रहा, जो उस सैन्य विस्तार और नाज़ी विचारधारा से निकला था, जिनके विरुद्ध उसने चेतावनी दी थी। लेकिन उसे इस बात पर आश्चर्य नहीं होता कि ये नीतियाँ आंशिक रूप से दुनिया को उसके सबसे भयानक युद्ध—द्वितीय विश्व युद्ध—में धकेलने के लिए ज़िम्मेदार थीं, जिसमें अनुमानित 5.5 करोड़ लोगों की जान गई। एडॉल्फ हिटलर उस कल्पना से भी बड़ा खतरा साबित हुआ, जिसकी ओसिएत्स्की ने आशंका की थी। उसने न केवल यूरोप पर नाज़ियों के हमले का नेतृत्व किया, बल्कि यहूदियों और अन्य अल्पसंख्यक समूहों के प्रति उसकी विकृत घृणा ने 60 लाख से अधिक निर्दोष लोगों की सामूहिक हत्या का मार्ग भी प्रशस्त किया।
शांति के लिए अपने बलिदानों से ओसिएत्स्की कोई ठोस परिणाम नहीं दिखा पाया था। लेकिन इस जर्मन लेखक का साहस—जिसका नाम दुनिया के अधिकांश हिस्सों में मुश्किल से ही जाना जाता है—इतना प्रभावशाली था कि पर्यवेक्षकों ने उसे "आधुनिक समय का शांति का सबसे महान नायक" कहा। कार्ल फ़ॉन ओसिएत्स्की उस समय सभ्यता का एक चमकता हुआ उदाहरण था, जब दुनिया के अधिकांश हिस्सों से शांति लुप्त होती जा रही थी, और उसने घोर अंधकार के समय में भी शांति की लौ जलाए रखी।

नाज़ी उन्माद ने हिटलर को एक समूह के बच्चों का मित्र बनने दिया (बाएँ), जबकि हज़ारों अन्य बच्चों को उनकी मृत्यु की प्रतीक्षा के लिए यातना शिविरों में भेज दिया गया (दाएँ)।



परमाणु विस्फोट से उठने वाला विशाल मशरूम-नुमा बादल वातावरण में खतरनाक रेडियोधर्मी विकिरण फैलाता है।



3

लिनस पॉलिंग

बनाम बम

न्यू मैक्सिको के अलामोगोर्डो एयर फ़ोर्स बेस के वीरान और दूरस्थ रेगिस्तानी क्षेत्र में वैज्ञानिकों की एक पंक्ति ज़मीन पर लेटी हुई थी। वे घबराहट के साथ उस उलटी गिनती की प्रतीक्षा कर रहे थे, जो 16 जुलाई 1945 को इतिहास के सबसे अशुभ मोड़ों में से एक बना देने वाली थी। सबसे अधिक जानकार वैज्ञानिक भी उस शक्ति की पूरी कल्पना नहीं कर सकता थे, जिसे उस सोमवार की सुबह मुक्त किया जाने वाला था।

180 मील से भी अधिक दूरी तक दिखाई देने वाली झुलसा देने वाली रोशनी की परतें आकाश को चीरती हुई फैल गईं और सूर्य के प्रकाश को दबा दिया। कुछ ही मिनटों बाद, तूफ़ानी वेग वाली हवाएँ एक भयावह गर्जना के साथ काँपते हुए दर्शकों पर टूट पड़ीं। वैज्ञानिकों ने पहले परमाणु बम के विस्फोट को अपनी आँखों से देखा।

एक महीने से भी कम समय बाद, 6 अगस्त 1945 को, संयुक्त राज्य अमेरिका का एक विशेष बॉम्बर विमान (**एनोला गे**) जापान के द्वीपीय साम्राज्य के ऊपर उड़ा। हिरोशिमा शहर के ऊपर आकाश पूरी तरह साफ था, परमाणु बम गिराने के लिए आदर्श परिस्थितियाँ थीं। बम के डिब्बे के दरवाज़े खुले, एक भारी बेलनाकार वस्तु बाहर लुढ़क गई, और विमान तेज़ी से भाग गया।

यह परमाणु बम आलमोगोर्डो में परीक्षण किए गए बम से भी अधिक शक्ति के साथ फटा। विस्फोट के आधे मील के दायरे में सभी इमारतें राख में बदल गईं, और शहर के ऊपर एक विशालकाय मशरूम के आकार का बादल उमड़ आया, जो 100,000 से अधिक पीड़ितों की कब्रों का स्मारक बन गया।

इन दो विस्फोटों ने दुनिया को परमाणु ऊर्जा के भयानक युग में धकेल दिया। परमाणु बम जैसे हथियारों से उत्पन्न खतरे ने युद्ध और शांति की अवधारणाओं को नया अर्थ दे दिया। इससे पहले कभी मनुष्यों के पास संपूर्ण मानव जाति को तुरंत नष्ट करने की शक्ति नहीं थी। यह वास्तव में वही शक्ति थी जिसका उल्लेख अल्फ्रेड नोबेल ने किया था, जब उन्होंने ऐसे हथियारों की बात की जिनकी भयंकरता के कारण राष्ट्र युद्ध के विचार की हिम्मत भी न करेंगे। लेकिन इतिहास में कभी हथियारों के सुधार ने विनाश की संभावना को कम नहीं किया था, और परमाणु हथियार कोई अपवाद नहीं थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, जब महाशक्तियाँ हिरोशिमा पर गिराए गए परमाणु बम से 1,000 गुना अधिक शक्तिशाली और भयावह नई पीढ़ी के परमाणु हथियार बना रही थीं, तो ऐसा प्रतीत हो रहा था कि दुनिया अंधेरे की ओर अंधी दौड़ लगा रही है।





एनोला गे (ऊपर) से गिराया गया एक ही परमाणु बम 6 अगस्त 1945 को हिरोशिमा शहर को नष्ट कर गया (बाएँ)।

"हमने क्या कर डाला?"

नए हथियारों के इस युग के परिणामों को सबसे पहले समझने वाले वही लोग थे जिन्होंने इन्हें बनाया था—वैज्ञानिक। महान प्रतिभा अल्बर्ट आइंस्टीन ने यह बात सामने रखी कि वैज्ञानिक स्वयं को ठीक उसी स्थिति में पा रहे थे, जिसमें अल्फ़्रेड नोबेल तब थे जब उन्होंने डायनामाइट का आविष्कार किया था। आइंस्टीन के अनुसार, परमाणु तकनीक में वैज्ञानिकों के योगदान के कारण यह उनका कर्तव्य बन गया था कि वे दुनिया को उस खतरे के बारे में चेतावनी दें, जिसका वह सामना कर रही थी।

इस आह्वान पर प्रतिक्रिया देने वालों में एक अमेरिकी वैज्ञानिक लिनस पॉलिंग भी थे। 1901 में ओरेगन में जन्मे पॉलिंग वैज्ञानिक जगत की सर्वोच्च श्रेणी तक पहुँचे और स्वयं भी संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए हथियारों के विकास में शामिल रहे थे। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान, नेशनल डिफ़ेंस रिसोर्सेज़ कमेटी के विस्फोटक विभाग के सदस्य के रूप में उनके कार्य के लिए उन्हें राष्ट्रपति मेडल ऑफ़ मेरिट प्रदान किया गया। 1946 में पॉलिंग ने सात अन्य वैज्ञानिकों के साथ मिलकर *इमरजेंसी कमेटी ऑफ़ एटॉमिक साइंटिस्ट्स* की स्थापना की। यह समिति, 2,000 सदस्यों वाले *फ़ेडरेशन ऑफ़ अमेरिकन साइंटिस्ट्स* जैसे अन्य संगठनों के साथ मिलकर, जनता को यह बताने का काम करती थी कि ये शक्तिशाली नए हथियार कितनी तबाही मचा सकते हैं।

जब अमेरिकी वैज्ञानिक परमाणु हथियारों के खतरों की चेतावनी दे रहे थे, तब सोवियत संघ अपना स्वयं का परमाणु बम विकसित कर रहा था। 1940 के दशक के उत्तरार्ध और 1950 के दशक में, जैसे-जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच संबंध अधिक से अधिक तनावपूर्ण होते गए, भयभीत अमेरिकी यह जोखिम नहीं उठाना चाहते थे कि उनके पास सोवियत संघ से कम सैन्य शक्ति हो। संयुक्त राज्य अमेरिका में दो-तिहाई से अधिक लोग किसी भी प्रकार की निरस्त्रीकरण वार्ता के विरोधी थे। जो लोग हथियारों में कटौती का समर्थन करते थे, उन्हें सोवियत संघ की मदद करने वाला समझा जाता था और उन पर कम्युनिस्ट होने का ठप्पा लगने का ख़तरा रहता था।

पॉलिंग और चिंतित लोगों का एक छोटा-सा अल्पसंख्यक वर्ग जनमत की अनदेखी करते हुए अपने मिशन पर डटा रहा। वे अंतरराष्ट्रीय संघर्षों को सुलझाने के लिए नए तरीकों की तात्कालिक आवश्यकता को समझाते रहे। 1947 में पॉलिंग ने हाइड्रोजन बम के विकास की चेतावनी दी—जो हिरोशिमा को नष्ट करने वाले बम से भी कहीं अधिक विनाशकारी हथियार था। लेकिन संयुक्त राज्य सरकार, जो अभी भी परमाणु हथियारों के बारे में चेतावनियाँ सुनने को तैयार नहीं थी, पॉलिंग को एक उपद्रवी मानती थी। 1952 में इस वैज्ञानिक को पासपोर्ट देने से इनकार कर दिया गया, और यहाँ तक कि 1954 में रसायन विज्ञान का नोबेल पुरस्कार जीतने पर भी सरकार की नज़र में उसकी छवि में कोई सुधार नहीं आया ।

समय के साथ पॉलिंग की बातों में छिपी सच्चाई धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगी और उनके उद्देश्य को समर्थन मिलने लगा। 1952 तक संयुक्त राज्य अमेरिका ने सफलतापूर्वक एक हाइड्रोजन बम का परीक्षण कर लिया था और सोवियत संघ भी उसके तुरंत बाद ऐसा करने में सफल हो गया।

हथियारों की इस होड़ में और तेज़ी आने से कुछ अन्य वैज्ञानिक भी पॉलिंग के शांति अभियान से जुड़ गए। जुलाई 1955 में पॉलिंग उन अनेक लोगों में से एक थे जिन्होंने *आइंस्टीन–रसेल अपील* पर हस्ताक्षर किए, जिसमें देशों से आग्रह किया गया था कि वे भावनाओं को अलग रखकर यह समझें कि उनका अस्तित्व सहयोग पर निर्भर है। उसी महीने पॉलिंग ने 52 नोबेल पुरस्कार विजेताओं के साथ मिलकर सभी देशों से अपील की कि वे आपसी संबंधों में बल प्रयोग को त्याग दें।

अदृश्य खतरा

जैसे-जैसे परीक्षण बमों की संख्या बढ़ती गई, पॉलिंग ने परमाणु हथियारों की होड़ के एक कम समझे जाने वाले दुष्परिणाम पर अपना ध्यान केंद्रित किया—परमाणु फॉलआउट। फॉलआउट वह विषैला विकिरण है जो परमाणु विस्फोट के दौरान निकलता है। 1950 के दशक में बहुत कम लोग फॉलआउट के बारे में जानते थे, और उससे भी कम लोग इसके बारे में चिंतित थे। संयुक्त राज्य नागरिक रक्षा प्रशासन ने एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें फॉलआउट को "केवल हवा में मौजूद पदार्थ के कण" बताया गया। प्रशासन ने जनता को यह कहकर आश्वस्त किया कि फॉलआउट खतरनाक नहीं है, क्योंकि "पूरा विश्व ही रेडियोधर्मी है।" *लाइफ़* पत्रिका ने आशावादी राय प्रकाशित की कि "विकिरण शायद लाभदायक भी हो सकता है।" 1957 में *न्यूयॉर्क डेली न्यूज़* तो यहाँ तक चला गया कि उसने पाठकों को फॉलआउट के बारे में चेतावनियों को "हँसकर टाल देने" की सलाह दी और दावा किया कि वैज्ञानिकों ने इसे हानिरहित पाया है।

सीनेट की एक उपसमिति के समक्ष उपस्थित होकर पॉलिंग परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबंध के पक्ष में तर्क देते हैं।



यह अंतिम लेक लिनस पॉलिंग के लिए सहन करना कठिन हो गया। मात्र दो महीनों में वे 3,000 अमेरिकी वैज्ञानिकों और अन्य देशों के 8,000 वैज्ञानिकों के हस्ताक्षर एक दस्तावेज़ पर जुटाने में सफल हुए, जिसमें कहा गया था कि फॉलआउट खतरनाक है और परमाणु परीक्षण रोके जाने चाहिए। पॉलिंग के प्रयासों को वही प्रतिक्रिया मिली, जो अक्सर शांति समर्थकों को मिलती है। हज़ारों वैज्ञानिकों की सलाह पर ध्यान देने के बजाय, सीनेट की एक उपसमिति यह जानना चाहती थी कि पॉलिंग ने नाम कैसे इकट्ठे किए, किसने उनकी मदद की, और कम्युनिस्ट आंदोलन से उनके क्या संबंध हैं।

इसी दौरान परमाणु परीक्षणों की संख्या कई गुना बढ़ गई और हवा अदृश्य ज़हर के बादलों से भर गई, जो पूरी दुनिया के देशों तक फैल गए। 1952 तक संयुक्त राज्य अमेरिका 16 परमाणु हथियार विस्फोट कर चुका था, जबकि सोवियत संघ भी दो विस्फोट कर चुका था। 1958 तक संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने परीक्षण बढ़ाकर 52 कर लिए, सोवियत संघ की संख्या बढ़कर 25 हो गई—जिसमें अब तक के सबसे शक्तिशाली बम शामिल थे—और ब्रिटेन ने भी अपने 5 परीक्षण कर डाले।

जैसे-जैसे परीक्षण बढ़े, वैसे-वैसे उन्हें रोकने के लिए पॉलिंग के प्रयास भी तेज़ होते गए। परमाणु फॉलआउट के प्रभावों के बारे में उनके आकलनों में यह आँकड़े शामिल थे कि एक मेगाटन का परमाणु विस्फोट (जो दस लाख टन टीएनटी के बराबर होता है) कैंसर के 1,000 मामलों का कारण बन सकता है। आनुवांशिकी के विशेषज्ञ पॉलिंग ने यह भी बताया कि विकिरण की थोड़ी-सी मात्रा बच्चों और विकसित हो रहे भ्रूणों पर कितने भयानक प्रभाव डाल सकती है। कुछ वैज्ञानिकों—विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका में—ने पॉलिंग के दावों का विरोध किया, लेकिन उनसे कहीं अधिक वैज्ञानिक, जिनमें सोवियत वैज्ञानिकों का एक समूह भी शामिल था, उनके समर्थन में आए। पॉलिंग के समर्थकों ने परमाणु परीक्षणों की मौजूदा बाढ़ को भविष्य के विरुद्ध अपराध बताया और कहा कि यदि परीक्षण बिना रुके जारी रहे, तो वैज्ञानिकों की गणना के अनुसार इसकी कीमत हर पीढ़ी में 70 लाख लोगों की जान से चुकानी पड़ेगी।

पॉलिंग ने जून 1958 में संयुक्त राज्य अमेरिका के रक्षा सचिव, परमाणु ऊर्जा आयोग और सोवियत रक्षा मंत्री के विरुद्ध मुक़दमा दायर कर परमाणु फॉलआउट के मुद्दे को समाचारों में बनाए रखा। उन्होंने वायुमंडल में सभी परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबंध लगाने के लिए अदालत से निषेधाज्ञा की माँग की। जब इस छिपे हुए हत्यारे—जो धरती की नदियों और पौधों से होते हुए जानवरों के शरीर में प्रवेश कर सकता था और अंततः मनुष्यों में बिना पता चले जमा हो सकता था—की भयावह प्रकृति उजागर हुई, तो इसने जनता को उसकी उदासीनता से झकझोर कर बाहर निकाला। उसी वर्ष, किसी न किसी रूप में निरस्त्रीकरण का समर्थन करने वाले अमेरिकियों का प्रतिशत 12 वर्ष पहले की तुलना में दोगुने से भी अधिक हो गया। इस बार सरकारी अधिकारियों ने शिकायतों पर ध्यान दिया और 1958 में वायुमंडल में परमाणु हथियारों का परीक्षण करने वाले तीनों देशों—संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ और ग्रेट ब्रिटेन—ने इसे रोकने पर सहमति व्यक्त की।

फिर से शुरुआत

हालाँकि यह सफलता अधिक समय तक नहीं टिकी। 1960 में फ़्रांस ने एक परीक्षण बम विस्फोट कर परमाणु युग में प्रवेश किया और परमाणु विस्फोटों की एक नई लहर शुरू हो गई। 1961 में सोवियत संघ ने सबसे पहले 31 परीक्षणों की एक श्रृंखला शुरू की, जिसमें 50-मेगाटन का वह विस्फोट भी शामिल था, जिसने 500 मील चौड़ा फॉलआउट का बादल हवा में छोड़ दिया।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने शीघ्र ही अपने छोटे-छोटे विस्फोटों की तेज़ श्रृंखला से जवाब दिया। 1962 तक परीक्षण बम औसतन हर तीन दिन में एक की दर से फूट रहे थे। संयुक्त राज्य अमेरिका ने कुल 37 मेगाटन के 86 परीक्षण किए, जबकि सोवियत संघ ने कहीं अधिक शक्तिशाली 40 विस्फोट किए, जिनकी कुल शक्ति लगभग 180 मेगाटन थी।

हतोत्साहित होने से इनकार करते हुए पॉलिंग ने हर संभव तरीके से अपना संघर्ष फिर शुरू किया। उन्होंने उन मापों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया, जो दिखाते थे कि 1962 के परीक्षण दौर ने वायुमंडल में परमाणु मलबे की मात्रा को दोगुने से भी अधिक कर दिया था। उन्होंने पौधों में बढ़ते विकिरण स्तर की ओर संकेत किया और चेतावनी दी कि रेडियोधर्मी पदार्थ गाय के दूध में हानिकारक स्तर तक केंद्रित हो रहे हैं। जो लोग कहते थे कि उनके बताए गए आँकड़े अभी भी सरकारी मानकों के भीतर हैं, उन्हें पॉलिंग ने यह कहकर जवाब दिया कि जब-जब मानक पार हुए, सरकार ने बस स्वीकार्य सीमा बढ़ा दी।

पॉलिंग ने सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका—दोनों के नेताओं को पत्र लिखे, दोनों देशों के विरुद्ध अपने मुक़दमे फिर शुरू किए, और संयुक्त राष्ट्र भवन तथा व्हाइट हाउस के सामने धरना दिया। यद्यपि उन्होंने सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका—दोनों की परीक्षण नीतियों की समान रूप से निंदा की थी, फिर भी उनके कई अमेरिकी साथी नागरिकों ने उन्हें गद्दार, सनकी और कम्युनिस्ट कहा।



पॉलिंग ने ऐसी आलोचनाओं को ज़्यादा महत्व नहीं दिया और 100 से अधिक लेखों तथा 26 देशों में दिए गए व्याख्यानों के माध्यम से अपने विरोध को लगातार व्यक्त करते रहे। एक दुर्लभ, अत्यंत संतुष्टिदायक क्षण शांति स्थापना के इतिहास में 25 जुलाई 1963 को आया। दो महाशक्तियाँ—संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ—ग्रेट ब्रिटेन तथा कई अन्य राष्ट्रों के साथ, जिनके पास अभी तक परमाणु क्षमता नहीं थी, ने सीमित परीक्षण प्रतिबंध संधि पर हस्ताक्षर किए। इस संधि में देशों ने सहमति व्यक्त की कि वे जमीन पर, अंतरिक्ष में या पानी के नीचे परमाणु परीक्षण उपकरणों का विस्फोट नहीं करेंगे, हालाँकि वे भूमिगत बम विस्फोट कर सकते थे। संधि पर हस्ताक्षर से एक वर्ष पहले, लिनस पॉलिंग को परमाणु हथियारों के परीक्षण रोकने के उनके कार्य के लिए नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

परमाणु हथियारों का भंडार इतना बढ़ चुका है कि पृथ्वी को कई बार नष्ट किया जा सकता है, इसलिए पॉलिंग और अन्य चिंतित लोगों के विरोध को इस विनाश की संभावना को पूरी तरह समाप्त करने वाला नहीं कहा जा सकता। लेकिन भविष्य की पीढ़ियों के लिए परमाणु परीक्षणों के प्रसार से होने वाले खतरे में जो कमी आई है, वह पॉलिंग जैसे लोगों के विश्वव्यापी विरोधों के कारण है, न कि सरकारी वार्ताकारों की कार्रवाइयों के कारण।

4

मार्टिन लूथर किंग, जूनियर

बनाम अदृश्य ज़ंजीरें

वे ज़ंजीरों में जकड़े हुए आए थे—अपने घरों से अपहृत किए गए, जहाज़ों के निचले हिस्से में गंदगी और अँधेरे में ठूँस हुए। जो लोग अटलांटिक महासागर की उस दुःस्वप्न जैसी यात्रा से जीवित बच गए, उन्हें अपनी मूल भूमि अफ्रीका से उखाड़कर "आजादी की भूमि"—अमेरिकी उपनिवेशों में ले आया गया, जो आगे चलकर संयुक्त राज्य अमेरिका बना। लेकिन इन काली त्वचा वाले लोगों के लिए वहाँ कोई आज़ादी नहीं थी—केवल गुलामी थी।

1865 में संविधान में 13वाँ संशोधन जोड़ा गया, जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका में 200 वर्षों से चली आ रही दास-प्रथा आधिकारिक रूप से समाप्त हो गई। लेकिन उस समय देश में रह रहे 44 लाख अश्वेत वास्तव में स्वतंत्र नहीं थे; केवल उनकी दिखाई देने वाली ज़ंजीरों को पूर्वाग्रह और भेदभाव की अदृश्य ज़ंजीरों में परिवर्तित कर दिया गया था।

गोरे लोगों की श्रेष्ठता की भावना के कारण अलगाव (सेग्रेगेशन) से जुड़े ऐसे क़ानून और नीतियाँ बनीं जिनका उद्देश्य अश्वेतों को गोरों के अधीन बनाए रखना था। 1900 के शुरुआती वर्षों में, साउथ कैरोलाइना ने कपड़ा मिलों को यह अनुमति देने से मना कर दिया कि अश्वेत और गोरे कर्मचारी एक ही कमरे में काम करें या एक ही दरवाज़ा, सीढ़ियाँ, शौचालय, यहाँ तक कि पानी के डोल भी इस्तेमाल करें। ओक्लाहोमा में अश्वेतों और गोरों के लिए अलग-अलग टेलीफोन बूथ थे, और 1940 तक जॉर्जिया के अटलांटा शहर में अश्वेत और गोरे एक ही समय पर चिड़ियाघर भी नहीं देख सकते थे। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान और उसके बाद के वर्षों में, जब बेहतर परिस्थितियों की तलाश में अश्वेत बड़ी संख्या में उत्तरी शहरों की ओर गए, तब उत्तर के गोरे भी दक्षिण के गोरों के साथ मिलकर देश के 2 करोड़ अश्वेत नागरिकों को गोरे इलाक़ों और चर्चों, स्कूलों और कार्यस्थलों, कब्रिस्तानों और मतदान केंद्रों से दूर रखने लगे।



अगस्त 1963 में, नस्लीय समानता का का समय अब आ गया है, यह दिखाने हेतु किंग वॉशिंगटन, डी.सी. पहुँचे।







जब रोज़ा पार्क्स (बाएँ) ने मोंटगोमेरी की बस में एक गोरे यात्री को अपनी सीट देने से इनकार किया, तो उनके इस कृत्य ने अश्वेतों को समान अधिकारों की माँग के लिए प्रेरित किया।

विद्रोह की चिंगारी

दिसंबर 1955 में, अलाबामा के मोंटगोमेरी शहर में काम से घर लौटते समय थकी हुई रोज़ा पार्क्स शहर की बस में सवार थीं। पार्क्स, जो अश्वेत थीं, बस के पीछे वाले उस हिस्से की पहली पंक्ति में बैठी थीं जहाँ क़ानून के अनुसार अश्वेतों को बैठना पड़ता था। जब गोरे यात्रियों का हिस्सा भर गया, तो उन्हें अपना स्थान एक गोरे यात्री को देने का आदेश दिया गया। पार्क्स ने इनकार कर दिया।

उन्हें गिरफ़्तार किया गया और 10 डॉलर का जुर्माना लगाया गया। इस घटना ने उस अपमानजनक व्यवहार के विरुद्ध विद्रोह की चिंगारी जला दी, जिसे अश्वेत सदियों से सहते आए थे। जिन लोगों में इससे कार्रवाई की प्रेरणा जगी, उनमें डेक्सटर एवेन्यू बैपटिस्ट चर्च के पादरी—मार्टिन लूथर किंग, जूनियर—भी शामिल थे।

किंग का जन्म 1929 में जॉर्जिया के अटलांटा में हुआ। एक मेधावी छात्र के रूप में उन्होंने 15 वर्ष की आयु में हाई स्कूल पूरा किया और आगे चलकर ईसाई धर्मशास्त्र में डॉक्टरेट प्राप्त की। रोज़ा पार्क्स की घटना के बाद, मोंटगोमेरी के अश्वेत समुदाय ने शहर की बसों के बहिष्कार का निर्णय लिया और केवल एक वर्ष से पादरी के रूप में कार्यरत 26 वर्षीय किंग से नेतृत्व करने का अनुरोध किया।

किंग के सहमत होते ही एक ऐसे आंदोलन की शुरुआत हुई, जिसने पूरे देश की दिशा बदल दी।

मोंटगोमेरी संकट के दौरान अपने प्रारंभिक भाषणों में से एक में, किंग ने श्रोताओं को यह कहकर प्रभावित किया कि उनके विरोध "क़ानून और व्यवस्था के सर्वोच्च सिद्धांतों" के अनुरूप होने चाहिए। ईसाई धर्म के आदर्शों में अपने दृढ़ विश्वास को भारत के अहिंसक आंदोलन के नेता मोहनदास गांधी की तकनीकों के साथ जोड़ते हुए, किंग ने अपने श्रोताओं से आग्रह किया कि वे अन्याय के विरुद्ध नैतिक संघर्ष करें—बिना हिंसा का सहारा लिए। उनका विश्वास था कि न्यायपूर्ण उद्देश्य के लिए शांतिपूर्वक एकजुट लोगों की शक्ति अंततः हिंसा और घृणा पर विजय पाएगी।

मोंटगोमेरी बस बहिष्कार ने किंग के सिद्धांत को परखने के भरपूर अवसर दिए। 382 दिनों तक अश्वेतों ने शहर की बसों में यात्रा करने से इनकार कर दिया। जिनके पास कारें थीं, उन्होंने उन्हें यात्रियों से भर लिया; अन्य लोग रोज़ाना मीलों पैदल चलकर काम पर आते-जाते रहे। इससे न केवल बसों की आय घटी, बल्कि मोंटगोमेरी के व्यवसायों को भी नुकसान हुआ, क्योंकि उनके अश्वेत ग्राहक बसों से शहर जाकर ख़रीदारी करना बंद कर चुके थे।

बहिष्कार की प्रभावशीलता ने गोरे समुदाय में तीव्र रोष पैदा कर दिया। अश्वेतों को अपमानित किया गया, गालियाँ दी गईं, धमकियाँ मिलीं और मारपीट हुई। किंग को स्वयं पुलिस द्वारा हर मोड़ पर परेशान किया गया और केवल पाँच मील प्रति घंटा से गति सीमा पार करने पर जेल भी भेजा गया। अश्लील और डराने वाली फ़ोन कॉल्स की बाढ़ आ गई—और जब किंग के घर पर बम विस्फोट हुआ, तब इनमें से किसी को भी हल्के में नहीं लिया जा सकता था। सौभाग्य से किंग परिवार गंभीर चोट से बच गया।

इतने अत्याचारों के बावजूद, किंग ने ज़ोर देकर कहा कि अश्वेत समुदाय अपने हमलावरों के विरुद्ध हथियार नहीं उठाएगा। किंग का दर्शन था कि स्वतंत्रता सेनानियों को दूसरों पर पीड़ा थोपने के बजाय स्वयं कष्ट सहना चाहिए।

असाधारण संयम का परिचय देते हुए, बहिष्कार पूरी तरह अहिंसक बना रहा—यहाँ तक कि 1956 में संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने मोंटगोमेरी के बस अध्यादेश को असंवैधानिक घोषित कर दिया और शहर की बसों को नस्लीय रूप से अलगाव समाप्त करने का आदेश दिया।

आशा की एक नई दृष्टि

किंग के नेतृत्व में बस बहिष्कार ने दो काम किए: इसने यह सिद्ध कर दिया कि अहिंसक विरोध की तकनीकें एक पश्चिमी लोकतंत्र में भी सफल हो सकती हैं, और इसने संयुक्त राज्य अमेरिका के अश्वेतों की अपेक्षाओं में एक क्रांति पैदा कर दी। मोंटगोमेरी में साहसिक रुख अपनाने के बाद, अनेक अश्वेतों को लगा कि उन्हें अब उस अपमान को सहन करने की आवश्यकता नहीं है, जो सैकड़ों वर्षों से उनकी जाति पर थोपा जाता रहा था। जिन अश्वेतों ने किंग का भाषण सुनने से पहले समानता की कोई आशा नहीं की थी, वे स्वतंत्रता और न्याय की उस दृष्टि से गहराई से प्रभावित हुए, जिसे वे प्रचारित कर रहे थे।

नागरिक अधिकार आंदोलन के प्रवक्ता की विशाल भूमिका सँभालते समय किंग को यह एहसास था कि आगे लंबा रास्ता और कठिन परिश्रम बाकी है। जनसंचार माध्यमों के बढ़ते प्रभाव के कारण किसी मुद्दे पर राष्ट्रीय ध्यान केंद्रित करना पहले से कहीं आसान था; फिर भी किसी विषय की बाढ़ आने पर जनता जल्दी ऊब भी जाती थी। किंग का काम था—जन-जागरूकता और अतिप्रचार के बीच सावधानीपूर्ण संतुलन बनाए रखना।

एक कुशल वक्ता और गैर-धमकी भरे अश्वेत नेता के रूप में, किंग गोरे समुदाय को यह समझाने में सक्षम थे कि अश्वेत किन परिस्थितियों से गुजर रहे हैं। उन्होंने उनके अंत:करण से अपील की, ताकि वे अश्वेतों की माँगों में निहित न्याय को स्वीकार करें।

1957 में, मोंटगोमेरी की सफलता की गति को आगे बढ़ाते हुए, किंग ने *सदर्न क्रिश्चियन लीडरशिप कॉन्फ्रेंस* (SCLC) के गठन में मदद की और उसके अध्यक्ष बने। यह संगठन मुख्यतः अश्वेत पादरियों से बना एक नागरिक अधिकार समूह था। अपने समय के सबसे प्रभावशाली सार्वजनिक वक्ता के रूप में बढ़ती प्रतिष्ठा के कारण किंग की माँग पूरे देश में होने लगी। 1957 से 1968 के बीच उन्होंने लगभग 60 लाख मील की यात्रा की और 2,500 से अधिक भाषण दिए। इस दौरान उन्होंने जॉर्जिया, वर्जीनिया और नॉर्थ कैरोलाइना सहित कई स्थानीय अभियानों में, तथा न्यूयॉर्क के हार्लेम में भी भाग लिया—जहाँ एक विक्षिप्त महिला के हमले में उन्हें चाकू से गंभीर चोट लगी और महीनों तक वे सक्रिय राजनीति से दूर रहे।

संकट के माध्यम से शांति

जॉर्जिया के ऑलबनी में एक अभियान से वास्तविक परिवर्तन न हो पाने के बाद, किंग ने अपने शत्रुओं को ही नागरिक अधिकारों की अपनी अहिंसक खोज को आगे बढ़ाने का साधन बनाने का निर्णय लिया। उन्होंने रणनीति बदली—केवल लोगों की अंतरात्मा जगाने के बजाय, जानबूझकर एक संकट पैदा करने और घृणा व कट्टरता के समर्थकों को स्वयं को उजागर करने देने की नीति अपनाई।



दूसरों पर कभी पीड़ा न थोपने के किंग के दर्शन के बावजूद, उन्हें कई रातें जेल की सलाखों के पीछे बितानी पड़ीं।

यह नई रणनीति 1963 में अपनाई गई, जब किंग और उनके सहयोगियों ने अलबामा के बर्मिंघम शहर की नस्लवादी नीतियों को चुनौती देने का साहसिक कदम उठाया—एक ऐसा शहर जिसे कभी-कभी "अमेरिका का सबसे अधिक अलगाववादी शहर" कहा जाता था।

बर्मिंघम में किंग का यह विश्वास—कि प्रदर्शनकारियों को दूसरों पर पीड़ा थोपने के बजाय स्वयं कष्ट सहना चाहिए—कड़ी परीक्षा में पड़ा।

विरोध मार्चों का सामना पुलिस की चौंकाने वाली क्रूरता से हुआ: प्रदर्शनकारियों पर कुत्ते छोड़े गए और दमकल की तेज़ धाराओं से हमला किया गया। एक महीने से अधिक चले इस अभियान में कई लोग घायल हुए, और जब एक रविवार स्कूल की कक्षा में बम फेंका गया, तो चार छोटी अश्वेत लड़कियों की मृत्यु हो गई। किंग की संयम की अपीलों के बावजूद, बर्मिंघम के कुछ अश्वेत अहिंसा की नीति से निराश हो गए और दंगे भड़क उठे।

बर्मिंघम आंदोलन के नेता के रूप में किंग को लगातार धमकियाँ मिलीं, कभी-कभी उन पर हमले हुए, और 20 से अधिक बार उन्हें जेल ले जाया गया। मौखिक हमले हर तरफ़ से हुए—कुछ अश्वेतों ने उनकी अनिर्णय, समझौते, तथा अत्यधिक शांत रहने के लिए आलोचना की, जबकि कुछ गोरों ने उन्हें शांतिदूत नहीं, बल्कि क़ानून तोड़ने वाला और उपद्रवी कहा। एफबीआई निदेशक जे. एडगर हूवर ने सार्वजनिक रूप से किंग को "देश का सबसे कुख्यात झूठा" कहा।

रात-दर-रात, भयभीत टेलीविज़न दर्शकों ने अहिंसक प्रदर्शनकारियों के साथ होने वाले अमानवीय व्यवहार को देखा और अश्वेतों के प्रति सहानुभूति महसूस किए बिना नहीं रह सके। बर्मिंघम की अमानवीयता से उपजे राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय दबाव का नतीजा यह हुआ कि राष्ट्रपति कैनेडी द्वारा प्रस्तावित "संघीय नागरिक अधिकार विधेयक" पर विचार करने के लिए अमरीकी संसद में प्रेरणा जागी। किंग ने उस विधेयक के पारित होने का आग्रह करने और अश्वेत बेरोज़गारी की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए *मार्च ऑन वॉशिंगटन* के आयोजन में मदद की।





"मेरा एक सपना है कि मेरे चार छोटे बच्चे एक दिन ऐसे राष्ट्र में रहेंगे जहाँ उन्हें उनकी त्वचा के रंग से नहीं, बल्कि उनके चरित्र की गुणवत्ता से आँका जाएगा। मेरा एक सपना है..."

— मार्टिन लूथर किंग, जूनियर
वॉशिंगटन, डी.सी.
28 अगस्त, 1963

वॉशिंगटन मार्च 28 अगस्त, 1963 को हुआ, जब काले और गोरे—दोनों—मिलाकर 2,00,000 से अधिक लोग वॉशिंगटन स्मारक से लिंकन मेमोरियल तक मार्च करते हुए गए। इस सभा का सबसे जादुई क्षण मार्टिन लूथर किंग जूनियर के "**आई हैव ए ड्रीम**" भाषण के साथ आया, जिसमें उन्होंने सभी लोगों के लिए समानता की बात कही। इस प्रदर्शन के कुछ ही समय बाद, कांग्रेस ने **1964 का सिविल राइट्स एक्ट** पारित किया, जिसने न केवल नस्ल के आधार पर, बल्कि लिंग, धर्म और राष्ट्रीय मूल के आधार पर भी भेदभाव को प्रतिबंधित कर दिया।

सिविल राइट्स एक्ट पारित होने के कुछ ही महीनों बाद, मार्टिन लूथर किंग जूनियर को **1964 का नोबेल शांति पुरस्कार** दिया गया, क्योंकि उन्होंने यह दिखाया कि अन्यायपूर्ण कानूनों से लड़ने के लिए अहिंसक अवज्ञा का प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन नए कानून और मिले सम्मान के बावजूद, किंग जानते थे कि अभी बहुत काम बाकी है।

1965 की शुरुआत में किंग एक और संकट के लिए तैयार हो गए। इस बार मुद्दा था **मतदान का अधिकार**, और निशाना था **सेल्मा, अलबामा**। दक्षिण के कई काउंटियों में अधिकारियों ने अश्वेतों के लिए मतदान को अत्यंत कठिन बना दिया था। उनके तरीकों में मतदान से पहले **पोल टैक्स** भरने की शर्त शामिल थी, जिससे मतदान कई अश्वेतों के लिए बहुत महँगा हो गया था। जिस तहसील में सेल्मा स्थित था, वहाँ 1961 में 15,000 योग्य अश्वेत मतदाताओं में से केवल **156** ही पंजीकृत थे, और उसके बाद भी बहुत कम प्रगति हुई थी।

जब लोग सेल्मा से अलबामा राज्य की राजधानी मोंटगोमरी तक विरोध मार्च के लिए इकट्ठा हुए, तो उन्हें पता था कि सेल्मा में नस्लीय भेदभाव की भावना इतनी गहरी है कि हिंसक घटनाएँ होने की पूरी संभावना है। जैसा कि उन्होंने आशंका की थी, किंग सहित मार्च करने वालों के दल पर राज्य और स्थानीय पुलिस ने हमला किया। एक बार फिर, स्वयं कष्ट सहकर किंग के अनुयायियों ने राष्ट्रीय अंतरात्मा को इतना झकझोर दिया कि **वोटिंग राइट्स एक्ट** का मार्ग प्रशस्त हुआ, जिसे अगस्त 1965 में कानून बना दिया गया।

एक आंदोलन का अचानक अंत

1966 में, किंग और उनका परिवार दक्षिण के साथ-साथ उत्तर के शहरों में भी भेदभाव से लड़ने के लिए शिकागो चले गए। नागरिक अधिकार आंदोलन का समर्थन जारी रखते हुए, किंग ने वियतनाम युद्ध के विरुद्ध भी बोलना शुरू कर दिया।

4 अप्रैल 1968 को, किंग टेनेसी राज्य के मेम्फिस शहर में हड़ताली अश्वेत सफाई कर्मचारियों का समर्थन करने पहुँचे थे, तभी उनके अहिंसक आंदोलन को हिंसा के एक कृत्य ने अचानक रोक दिया—एक हत्यारे की गोली से उनकी मृत्यु हो गई।

हालाँकि उनका काम अधूरा रह गया, फिर भी मार्टिन लूथर किंग जूनियर के नेतृत्व में चलाए गए अभियानों ने अमेरिका में अश्वेतों के लिए स्पष्ट सुधार किए। 1940 में केवल 10 में से 1 अश्वेत हाई स्कूल पूरा करता था। 1984 तक यह अनुपात 10 में से 5 हो गया, और 25 वर्ष से अधिक आयु के लगभग 8 प्रतिशत अश्वेतों ने कॉलेज की शिक्षा भी पूरी कर ली थी



9 अप्रैल 1968 को अटलांटा, जॉर्जिया में सैकड़ों हज़ार लोग—काले और गोरे दोनों—मार्टिन लूथर किंग जूनियर की मृत्यु पर शोक व्यक्त करने के लिए एकत्र हुए।

जब 1964 का सिविल राइट्स एक्ट कांग्रेस द्वारा पारित किया गया, तब राष्ट्रीय या राज्य स्तर के पदों पर केवल **103 अश्वेत निर्वाचित अधिकारी** थे। 1975 तक यह संख्या बढ़कर **3,500 से अधिक** हो गई, और वे दस लाख से अधिक अश्वेत, जिन्हें पहले चुनावों से बाहर रखा गया था, अपने मतदान अधिकार का उपयोग करने लगे। 1980 के दशक के मध्य तक, सार्वजनिक पदों पर लगभग **6,500 अश्वेत** थे।

पूर्वाग्रह और भेदभाव की अदृश्य जंजीरें आज भी हमारे साथ हैं और शायद कभी पूरी तरह समाप्त न हों। लेकिन शांति की यात्रा में प्रगति मीलों से नहीं, बल्कि **कदमों से** मापी जाती है—और मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने दुनिया को नस्लीय समानता और सद्भाव के अपने सपने के एक कदम और करीब पहुँचा दिया।



5

आंद्रेई सखारोव

बनाम मानसिक नियंत्रण

अजीब किस्मत के फेर में, नोबेल शांति पुरस्कार कभी-कभी शांति के सबसे अप्रत्याशित योद्धाओं के हाथों में पहुँचा है। पूर्व विजेताओं में थियोडोर रूज़वेल्ट शामिल हैं—एक ऐसे राष्ट्रपति जो शांतिवादियों का मज़ाक उड़ाते थे और एक शक्तिशाली सेना पर गर्व करते थे; जॉर्ज मार्शल—अमेरिकी सेना के एक जनरल; अनवर सादात और मेनाकेम बेगिन—दोनों उग्र संगठनों के पूर्व सदस्य; और ले ड्यू थॉ व हेनरी किसिंजर—वियतनाम युद्ध के दौरान वियतनाम को तबाह करने वाले दो देशों के प्रतिनिधि।

शायद नोबेल शांति पुरस्कार से जुड़ी सबसे बड़ी विडंबना यह है कि डायनामाइट के आविष्कारक अल्फ्रेड नोबेल द्वारा स्थापित यह पुरस्कार एक दिन **"सोवियत एच-बम के जनक"**, आंद्रेई सखारोव, को दिया गया।

सखारोव को इस ज्ञान के साथ जीना पड़ा कि वे सोवियत हाइड्रोजन बम के विकास के लिए काफी हद तक जिम्मेदार थे—एक ऐसा हथियार जो इतना भयावह है कि पूरी दुनिया के अस्तित्व को खतरे में डाल देता है। फिर भी, इस व्यक्ति ने—जिसने अपने समय में मानवीय अंतरात्मा के शायद सबसे अधिक पहलुओं की पड़ताल की—शांति और मानवाधिकारों की कठिन खोज को अपना जीवन समर्पित कर दुनिया का ऋण चुकाया, अक्सर सोवियत सरकार की खुली अवहेलना करते हुए।

सोवियत संघ उन लोगों के लिए एक डरावनी जगह रहा है जो आधिकारिक सरकारी नीतियों से असहमत होते हैं।

आंद्रेई सखारोव अपनी पत्नी येलेना बॉनर के साथ

अपने सबसे क्रूर रूप में, सरकार ने नाजी जर्मनी जैसी निर्दयी रणनीतियाँ अपनाईं—जैसे 1930 और 1940 के दशकों में जोसेफ स्टालिन द्वारा समय-समय पर कराए गए रक्तरंजित शुद्धिकरण अभियान, जिनमें लोगों को बिना भेदभाव के मार दिया गया। अधिक उदार समय में भी, सोवियत सरकार ने अपने लोगों के विचारों और कार्यों पर कड़ा नियंत्रण बनाए रखा।

अधिकांश सर्वसत्तावादी व्यवस्थाओं में सत्ता से असहमति रखने वाला व्यक्ति राजनीतिक अपराधी माना जाता है, लेकिन सोवियत इस सीमा को और आगे ले जाते हैं। सोवियत संघ में असहमति—जिसे "**अलग सोच**" कहा जाता है—सिर्फ अपराध नहीं, बल्कि **बीमारी** मानी जाती है। सरकार की बार-बार आलोचना करना पागलपन का एक रूप समझा जाता है, और इसी के आधार पर सरकार उस चीज़ को उचित ठहराती है जिसे कई पश्चिमी लोग **मानसिक नियंत्रण** मानते हैं। नीति यह है कि असंतुष्ट, या "पागल", समाज में कार्य करने में सक्षम नहीं होते, इसलिए राज्य उनके लिए सभी निर्णय ले सकता है और कुछ मामलों में उन्हें मनोरोग अस्पतालों में बंद कर सकता है।

सोवियत एच-बम के जनक

आंद्रेई सखारोव ऐसे देश में बड़े हुए जहाँ सरकार से असहमति का संदेह मात्र भी गंभीर परिणाम ला सकता था। 1921 में—कम्युनिस्ट क्रांति के चार साल बाद—मॉस्को में जन्मे सखारोव ने आंतरिक सुरक्षा के नाम पर चले सोवियत अभियान में अपने सात करीबी रिश्तेदारों को खो दिया। प्रत्येक को उनके घर से उठाया गया, जेल शिविर भेजा गया, और फिर कभी उनकी कोई खबर नहीं मिली।

सखारोव के पिता एक प्रसिद्ध लेखक और भौतिकी शिक्षक थे और उन्होंने अपने बेटे को एक असाधारण छात्र पाया। लड़के ने जल्दी ही अपने सभी शिक्षकों—यहाँ तक कि अपने पिता—से भी आगे निकलना शुरू कर दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान कॉलेज छात्र रहते हुए, सखारोव ने भौतिकी और गणित की समस्याएँ हल करने में ऐसी प्रतिभा दिखाई कि उन्हें सैन्य सेवा से एक दुर्लभ छूट मिल गई।

युद्ध समाप्त होने के कुछ वर्षों बाद, सखारोव को सरकार की एक गुप्त परियोजना पर लगाया गया। 1948 से 1958 तक, यह व्यापक रूप से प्रकाशित भौतिक विज्ञानी शोधकर्ताओं की एक टीम के साथ एक विनाशकारी **थर्मोन्यूक्लियर हथियार—हाइड्रोजन बम**—को परिपूर्ण करने के लिए एकांत में काम करता रहा। हालाँकि उस प्रयास का इतिहास रहस्य में डूबा है, लेकिन व्यापक रूप से माना जाता है कि सबसे बड़ा योगदान सखारोव का ही था। इस धारणा को इस तथ्य से समर्थन मिलता है कि 1953 में—जब सोवियत संघ अमेरिका के बाद हाइड्रोजन बम का परीक्षण करने वाला पहला देश बना—सखारोव को सोवियत विज्ञान अकादमी की सदस्यता दी गई। 32 वर्ष की आयु में, वे ऐसा सम्मान पाने वाले सबसे कम उम्र के व्यक्ति थे।

कई सोवियत नागरिकों के लिए—जो सरकारी नौकरशाही और आर्थिक कमी से जकड़े थे—आंद्रेई सखारोव का जीवन आदर्श प्रतीत होता था। वे जहाँ चाहें रह सकते थे, ऐसे आराम भोग सकते थे जो अधिकांश रूसियों के लिए उपलब्ध नहीं थे, और देश की सर्वश्रेष्ठ सुविधाओं में सर्वश्रेष्ठ दिमागों के साथ काम कर सकते थे।

जब तक उन्हें यह विश्वास था कि अमेरिका के समकक्ष परमाणु क्षमता विकसित करके उन्होंने पश्चिमी महाशक्ति को सोवियत संघ के खिलाफ इस हथियार का प्रयोग करने से रोका है, तब तक उन्हें हाइड्रोजन बम के विकास में सहभागी होने का कोई अपराधबोध नहीं था।

लेकिन जब सखारोव ने सोवियत सरकार के कार्यों पर प्रश्न उठाने शुरू किए, तो उनका आरामदेह वातावरण जल्द ही दमघोंटू बन गया। 1958 में उन्होंने प्रधानमंत्री निकिता ख्रुश्चेव से असफल आग्रह किया कि उस शैक्षिक कार्यक्रम को त्याग दिया जाए जिसमें शीर्ष विज्ञान छात्रों को खेतों और कारखानों में काम का अनुभव लेना अनिवार्य किया गया था।

यद्यपि यह विरोध अपने आप में छोटा था, फिर भी इसने सोवियत नीतियों के प्रति सखारोव के बढ़ते विरोध का संकेत दे दिया।

1961 में, एक ही परीक्षण बम से पर्यावरण को होने वाले नुकसान को ध्यान में रखते हुए, सखारोव ने सरकार से अगले वर्ष प्रस्तावित ज़मीन के ऊपर होने वाले परीक्षणों की श्रृंखला को रोकने का आग्रह किया। विशेष चिंता का विषय एक **50-मेगाटन** का विस्फोट था, जो द्वितीय विश्व युद्ध में हिरोशिमा को नष्ट करने वाले बम को एक हथगोले जैसा छोटा बना देता। एक गोपनीय पत्र में, सखारोव ने ख्रुश्चेव को परमाणु परीक्षणों के खतरों से आगाह किया और उन्हें रोकने का अनुरोध किया।




जोसेफ स्टालिन (बाएँ) और निकिता ख्रुश्चेव (दाएँ)—दोनों ने जिन सोवियत समाजों का नेतृत्व किया, वहाँ असहमति के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा।



सखारोव ने सोवियत संघ को परमाणु युग में प्रवेश कराने में मदद की। यह लेनिनग्राद भौतिक-तकनीकी संस्थान का एक प्रायोगिक परमाणु रिएक्टर है।

अधिकारियों ने सखारोव को आश्वासन दिया कि 50-मेगाटन विस्फोट रद्द कर दिया जाएगा, लेकिन निजी तौर पर ख्रुश्चेव ने टिप्पणी की कि यह प्रतिभाशाली भौतिक विज्ञानी भौतिकी तक ही सीमित रहे और शासन उन लोगों पर छोड़ दे जो उसे चलाना जानते हैं। भयावह परीक्षण तय समय पर हुआ, और सखारोव के मन में विश्वासघात और असहायता की भावना भर गई।

स्वतंत्रता के लिए व्याकुल

स्वभाव से शांत और लगभग संकोची सखारोव ने अचानक सोवियत-विरोधी अभियान नहीं छेड़ा। लेकिन समय के साथ वे अपने विचार व्यक्त करने के लिए उस स्वतंत्रता की लालसा करने लगे, जिसे सोवियत व्यवस्थ एक विशेषाधिकार प्राप्त वैज्ञानिक को भी देने को तैयार नहीं थी। पश्चिम के मानवतावादियों, जैसे अल्बर्ट श्वाइट्ज़र और लिनस पॉलिंग, के संपर्क से प्रभावित होकर सखारोव ने उन सोवियत नीतियों के खिलाफ बोलना शुरू किया जिन्हें वे विनाशकारी मानते थे।

अपने विरोधों में, आंद्रेई सखारोव ने परमाणु परीक्षणों से होने वाले रेडियोधर्मी प्रदूषण और उद्योगों द्वारा जल व वायु को प्रदूषित किए जाने—दोनों के लिए जिम्मेदारी के मुद्दे पर जोर दिया।

उन्होंने उस परमाणु हथियार दौड़ को नियंत्रित करने के लिए वैश्विक सहयोग की अपील की, जिसमें वे स्वयं कभी योगदान दे चुके थे। जब सोवियत सरकार—जो कुछ समय से राजनीतिक स्वतंत्रताओं पर लगी पाबंदियों को ढीला कर रही थी—ने 1966 में अचानक रुख बदलते हुए स्वतंत्र विचार रखने वाले लेखकों के एक समूह को गिरफ्तार किया, तो सखारोव ने साहसपूर्वक इस कार्रवाई की निंदा करते हुए याचिकाएँ प्रसारित कीं।

अपने देश के महानतम नागरिकों में से एक होने की प्रतिष्ठा के कारण, सखारोव को सरकारी नीतियों से थोड़ा अधिक भटकने की छूट मिली। लेकिन जल्दी ही, एक राष्ट्रीय नायक भी निषिद्ध क्षेत्र में प्रवेश कर चुका था। संकट का पहला संकेत सखारोव की सबसे प्रसिद्ध रचना—**प्रोग्रेस, कोएग्ज़िस्टेंस एंड इंटेलेक्चुअल फ़्रीडम**—के प्रकाशन के साथ आया, जिसमें उन्होंने तर्क दिया कि विश्व शांति इस बात पर निर्भर करती है कि सोवियत और अमेरिकी राजनीतिक प्रणालियाँ एक-दूसरे के और निकट आती जाएँ। किसी भी पक्ष को न बख्शते हुए, सखारोव का उद्देश्य ऐसे अधिक मानवीय शासन को बढ़ावा देना था जो बल या हिंसा के प्रयोग को पूरी तरह अस्वीकार करें। यद्यपि दुनिया भर में इस घोषणापत्र का स्वागत हुआ, लेकिन उनकी अपनी सरकार ने 1968 में उन्हें उनके शोध पद से हटा दिया।

इस समय तक, सखारोव की स्वतंत्रता के प्रति लगन को दबाया नहीं जा सकता था। धीरे-धीरे, उनका ध्यान दार्शनिक तर्कों से हटकर उन नागरिकों की वास्तविक दुर्दशा पर केंद्रित हो गया, जो सरकार की असहिष्णुता के शिकार थे।



आंद्रेई सखारोव

ऐसे समय में, जब सोवियत संघ के बाहर बहुत कम लोग वहाँ के असंतुष्ट आंदोलन से परिचित थे, सखारोव उस आंदोलन के प्रमुख नेताओं में से एक बन गए। वे उत्पीड़ित व्यक्तियों और धार्मिक समूहों के पत्रों का उत्तर देते, उनकी ओर से अधिकारियों को अपीलें लिखते, और उनके मुकदमों पर पहरा रखते।



येलिना बॉनर की मुलाकात 1970 में एक असंतुष्ट के मुकदमे के बाहर आयोजित पहरे के दौरान सखारोव से हुई, और 1971 में दोनों ने विवाह किया।

सखारोव ने हज़ारों भयभीत स्त्री-पुरुषों को आशा और प्रेरणा दी। उन्होंने गुप्त रूप से आयोजित “न्यायपूर्ण मुकदमों” और असंतुष्टों को मनोरोग अस्पतालों में डालने की प्रथा का सार्वजनिक रूप से उपहास किया। 1970 में, दो अन्य लोगों के साथ मिलकर, सखारोव ने **सोवियत संघ में मानवाधिकार समिति** की स्थापना की। इस समूह ने प्रेस की स्वतंत्रता, गुप्त मुकदमों की समाप्ति, सभी राजनीतिक कैदियों के लिए आम माफी, जेल सुधार और मृत्युदंड की समाप्ति की माँग की।

स्वतंत्रता कुचली गई

धीरे-धीरे सरकार ने “अलग सोच” रखने वालों पर शिकंजा कसना शुरू किया। एक-एक कर सखारोव के मित्रों को पूछताछ, मुकदमे और सज़ा के लिए उठाया जाने लगा। 1973 तक, सोवियत केजीबी (गुप्त पुलिस) ने मानवाधिकार समिति को भंग कर दिया और आंदोलन को कुचल दिया। सखारोव को एक शीर्ष सरकारी अभियोजक के सामने पेश किया गया और सरकार की आगे किसी भी आलोचना या विदेशी पत्रकारों से संपर्क के विरुद्ध कड़ी चेतावनी दी गई।

लेकिन कटु अनुभवों से भरे इस भौतिक विज्ञानी को पता था कि आंदोलन के जीवित रहने की एकमात्र आशा वही विदेशी पत्रकार हैं। सोवियत व्यवस्था में उन सुधारों को आगे बढ़ाने का कोई रास्ता नहीं था जो वे चाहते थे। वे बस इतना कर सकते थे कि मुद्दों को खबरों में बनाए रखें, ताकि अन्य देश उनकी सरकार पर मानवीय व्यवहार के लिए दबाव डालें।

जल्द ही अभियोजक से प्राप्त चेतावनी के बाद, सखारोव ने एक संवाददाता सम्मेलन बुलाया। अपनी स्थिति से पीछे हटने के बजाय, उन्होंने कहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका को सोवियत नागरिकों के लिए अधिक स्वतंत्रता की मांग करनी चाहिए, जो सोवियत संघ के साथ सहयोगी उद्यमों को जारी रखने की कीमत हो।

सखारोव को अंततः उनकी सभी विशेष सुविधाओं और वैज्ञानिक चुनौतियों से वंचित कर दिया गया और उन्हें निरंतर उत्पीड़न का सामना करना पड़ा, लेकिन उन्होंने मानवाधिकार के लिए काम करना जारी रखा। उनकी मुहिम को पश्चिम में रूसी प्रवासियों का समर्थन मिला, जिनमें लेखक अलेक्जेंडर सोल्झेनित्सिन भी शामिल थे, और 1975 में सखारोव पहले रूसी नागरिक बने जिन्हें नोबेल शांति पुरस्कार मिला। इससे सोवियत राज्य के सत्ताधारी और अधिक क्रोधित हो गए, और सखारोव को नोबेल समारोह में भाग लेने की अनुमति नहीं दी गई।

अंततः जनवरी 1980 में सखारोव की यह पूरी मुहिम सोवियत सरकार द्वारा बलपूर्वक बंद करवा दी गई। अफगानिस्तान पर सोवियत आक्रमण की निंदा करने के तीन सप्ताह बाद, उनकी कार एक व्यस्त सड़क के बीच में रोकी गई और केजीबी एजेंटों द्वारा उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। बार-बार "एंटी-सोवियत" गतिविधियों के कारण, सखारोव को मॉस्को में उनके घर से निर्वासित कर दिया गया और उन्हें गोरकी शहर में 250 मील दूर ले जाया गया। वहाँ उन्हें कड़ी निगरानी में रखा गया, विदेशी संवाददाताओं से दूर और टेलीफोन सुविधा से वंचित।

उन्हें अपनी पांडुलिपियाँ हमेशा अपने साथ ले जानी पड़ती थीं ताकि पुलिस उन्हें नष्ट न कर सके। धीरे-धीरे, सखारोव सोवियत व्यवस्था के शिकंजे के कारण जनता की आँखों से ओझल होते चले गए। वर्षों तक, गोरकी से आंद्रेई सखारोव के बारे में अस्पष्ट रिपोर्टें और अफवाहें ही बाहर आ पाईं। फिर 1986 के अंत में, सोवियत संघ ने अचानक घोषणा की कि सखारोव को अपनी पत्नी येलिना बोनर के साथ मॉस्को लौटने और भौतिकी में अपने काम को फिर से शुरू करने की अनुमति दी जाएगी। उनकी रिहाई पर तुरंत स्पष्ट हो गया कि सात वर्षों के निर्वासन ने सखारोव के स्वास्थ्य पर असर डाला था, लेकिन उनके जज़्बे पर इसका कोई असर नहीं हुआ था। आंद्रेई सखारोव ने साफ़ कर दिया कि परिणाम जो भी हों, वे अपनी मान्यताओं को व्यक्त करना जारी रखेंगे और मानवाधिकार आंदोलन का समर्थन करते रहेंगे।



6

बेट्टी विलियम्स और माइरेड कोरिगन

बनाम धार्मिक आतंकवाद

10 अगस्त 1976 को, उत्तरी आयरलैंड के बेलफ़ास्ट में रहने वाली ऐन मैग्वायर ने यह तय किया कि उनके परिवार को घर की घुटन से थोड़ी राहत की ज़रूरत है। इसलिए वे अपने चार में से तीन बच्चों—जिनकी उम्र 8 वर्ष, 2½ वर्ष और 6 सप्ताह थी—को टहलाने के लिए बाहर ले गईं। मैग्वायर कैथोलिक थीं और जानती थीं कि बेलफ़ास्ट की सड़कें हमेशा सुरक्षित नहीं होतीं, जहाँ रोमन कैथोलिकों, प्रोटेस्टेंटों और ब्रिटिश सैनिकों के बीच शत्रुता कभी-कभी हिंसा में बदल जाती थी। लेकिन भला कौन एक माँ और उसके तीन छोटे बच्चों को नुकसान पहुँचाएगा?

जब मैग्वायर परिवार सड़कों से गुज़र रहा था, तभी मोहल्ले की शांति अचानक इमारतों की दीवारों से टकराती गोलियों की उस परिचित आवाज़ से टूट गई।

1977 में उत्तरी आयरलैंड में महारानी एलिज़ाबेथ की यात्रा का विरोध करते हुए IRA समर्थक एक ब्रिटिश सैनिक पर पत्थर फेंकते हुए।

आयरिश रिपब्लिकन आर्मी (IRA)—एक भूमिगत सैन्य संगठन—के सदस्यों से भरी एक कार ने ब्रिटिश सैनिकों के एक समूह पर अचानक हमला कर दिया, उन पर गोलियाँ चलाईं और गिरफ्तारी से बचने के लिए तेज़ी से भाग निकली। सैनिकों ने तुरंत पीछा किया और गोली चलाते हुए कार के पीछे दौड़े। चालक को गोली लगी और वह स्टीयरिंग पर ही ढेर हो गया, जबकि तेज़ रफ्तार कार नियंत्रण से बाहर हो गई। एक ही पल में, बिना चालक की वह गाड़ी दहशत से भरे मैग्वायर परिवार से जा टकराई।

ऐन मैग्वायर को गंभीर चोटें आईं, लेकिन वे अंततः—कम से कम शारीरिक रूप से—उबर गईं। हालाँकि, उस घाव को कोई नहीं भर सकता था जो उनके तीन बच्चों की मौत ने उन्हें दिया था, जिनकी टक्कर में जान चली गई।

बंद मोहल्ले

उत्तरी आयरलैंड की आबादी लगभग 15 लाख है। इनमें से क़रीब 10 लाख लोग प्रोटेस्टेंट धर्म के हैं, जबकि शेष 5 लाख रोमन कैथोलिक हैं। दुनिया के अधिकांश हिस्सों में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक यह समझ चुके हैं कि जो दीवारें उन्हें अलग करती हैं, वे लड़ने लायक नहीं हैं। लेकिन उत्तरी आयरलैंड में समस्याएँ केवल धार्मिक मतभेदों से कहीं आगे बढ़ चुकी हैं। बहुत से लोगों का मानना है कि उत्तरी आयरलैंड में प्रोटेस्टेंट होना बेहतर नौकरियाँ, सरकार में अधिक शक्ति और समाज में ऊँचा दर्जा दिलाता है, जबकि कैथोलिक होना नहीं। यहाँ तक कि 1980 के दशक में भी, नौकरी के विज्ञापनों में यह लिखा जाता था कि विज्ञापनदाता प्रोटेस्टेंट को रखना चाहता है या कैथोलिक को।

ये अंतर एक विशाल और अक्सर हिंसक विभाजन में बदल गए, जिसने दोनों पक्षों को अपने-अपने बंद मोहल्लों में सिमटने पर मजबूर कर दिया।

मैग्वायर परिवार की त्रासदी उन अन्यायों के लंबे संचय का परिणाम थी, जिन्हें उत्तरी आयरलैंड में दशकों से और आयरलैंड में सदियों से पाला-पोसा गया था। सैकड़ों वर्षों तक, आयरलैंड में प्रोटेस्टेंटों के पास अधिकांश सत्ता रही, जबकि आबादी का बड़ा हिस्सा कैथोलिक था। 1920 में, जब आयरलैंड एक सदी से भी अधिक समय से ग्रेट ब्रिटेन का हिस्सा था, ब्रिटिश सरकार ने द्वीप को दो हिस्सों में बाँट दिया—मुख्यतः कैथोलिक दक्षिण और अधिकांशतः प्रोटेस्टेंट उत्तर। यह समझौता, जो आयरलैंड में प्रोटेस्टेंट अल्पसंख्यक के हितों की रक्षा के लिए किया गया था, उत्तर के छह ज़िलों में एक नया अल्पसंख्यक पैदा कर गया: यानि कैथोलिक, जिनके हितों की बड़े पैमाने पर अनदेखी होने लगी।

1949 में, आयरलैंड के दक्षिणी हिस्से ने स्वयं को ग्रेट ब्रिटेन से स्वतंत्र घोषित कर दिया और **आयरलैंड गणराज्य** बना। द्वितीय श्रेणी की स्थिति से तंग आकर, उत्तरी आयरलैंड के कई कैथोलिक एक स्वतंत्र, एकीकृत आयरलैंड में नए गणराज्य के साथ जुड़ने की आकांक्षा रखने लगे। दूसरी ओर, अधिकांश प्रोटेस्टेंट ब्रिटिश नागरिक होने पर गर्व करते थे और कैथोलिक-बहुल समाज में शामिल होने के इच्छुक नहीं थे।

संयुक्त राज्य अमेरिका में नागरिक अधिकार आंदोलनों की सफलता से प्रेरित होकर, 1960 के दशक में उत्तरी आयरलैंड के कैथोलिकों ने समान अधिकारों की माँग ज़ोर-शोर से उठानी शुरू की। लेकिन दशकों के पूर्वाग्रह से एक-दूसरे से कटे कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट समुदाय कोई समाधान नहीं निकाल पाए। कैथोलिकों ने—उन प्रोटेस्टेंटों के साथ मिलकर जो उनके उद्देश्य के प्रति सहानुभूति रखते थे—1968 में एक विरोध मार्च की योजना बनाई, जिसे प्रोटेस्टेंट-प्रभुत्व वाली सरकार ने प्रतिबंधित कर दिया। जब प्रदर्शनकारियों ने प्रतिबंध की अवहेलना की, तो सुलगती नफ़रत हिंसा में फूट पड़ी। जल्द ही पत्थरबाज़ी, तोड़फोड़ और गोलीबारी की घटनाएँ आम होने लगीं।

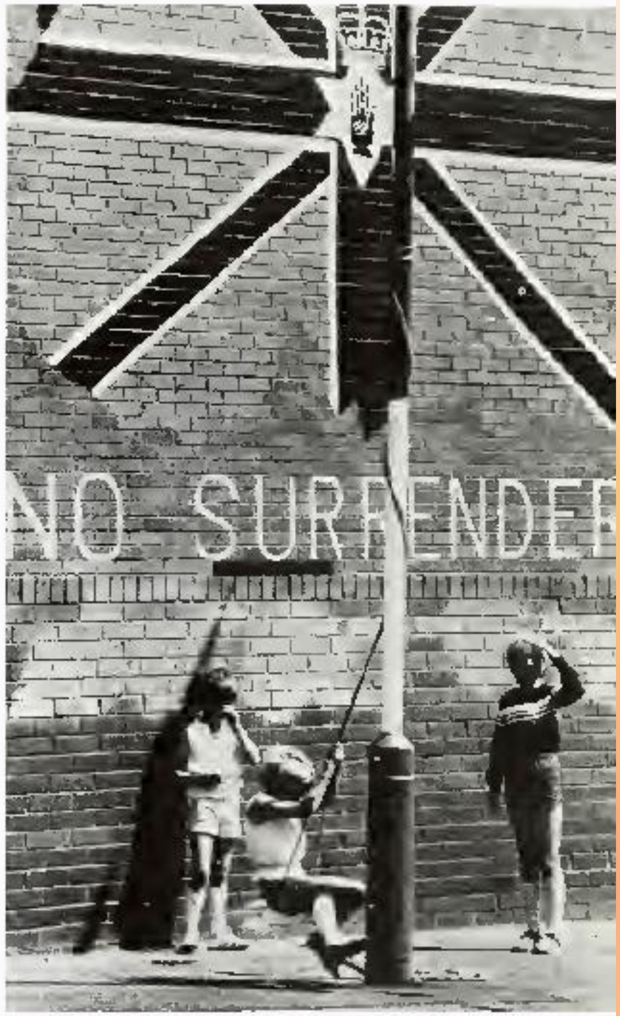
शांति बहाल करने के लिए बुलाए गए ब्रिटिश सैनिकों का शुरू में कैथोलिकों ने स्वागत किया, क्योंकि वे उन्हें प्रोटेस्टेंट उग्रवादियों से सुरक्षा देने वाले मानते थे। लेकिन जैसे-जैसे प्रोटेस्टेंट हमले कम हुए, वहीं टिके सैनिक कैथोलिकों को दमनकारी लगने लगे—विदेशी सेनाएँ, जो अन्यायपूर्ण क़ानूनों को लागू कराने के लिए उनकी ज़मीन पर क़ब्ज़ा किए हुए थीं।

आयरिश रिपब्लिकन आर्मी (कैथोलिक) और अल्स्टर डिफ़ेंस एसोसिएशन (प्रोटेस्टेंट) जैसे अर्धसैनिक संगठन बम धमाकों और हत्याओं जैसी आतंकवादी कार्रवाइयों के लिए ज़िम्मेदार थे। लड़ाई तेज़ होती गई और 1971 में केवल चार महीनों के भीतर 800 हिंसक घटनाओं में 31 सैनिकों और 71 नागरिकों की जान चली गई। कोई भी कैथोलिक या प्रोटेस्टेंट अगर "गलत" मोहल्ले में चला जाता, तो उसे मौत या चोट का ख़तरा रहता। जब ऐन मैग्वायर अपनी वह मनहूस सैर पर निकलीं, तब तक 1968 से हिंसा के तेज़ होने के बाद **1,600 से अधिक लोग**, जिनमें अधिकांश आम नागरिक थे, मारे जा चुके थे।

सदमे से जन्मी एक योजना

जब मैग्वायर दुर्घटना की खबर पूरे उत्तरी आयरलैंड में फैली, तो स्तब्ध टेलीविज़न दर्शकों की निगाहें मृत बच्चों की शोकाकुल मौसी, माइरेड कोरिगन, पर टिक गईं। दोनों पक्षों द्वारा हिंसा की उनकी आँसू भरी निंदा ने रक्तपात की कहानियों की आदी जनता की भावनाओं को झकझोर दिया। उसी समय, दुर्घटना की प्रत्यक्षदर्शी बेट्टी विलियम्स इस विनाश को रोकने के लिए अथक प्रयास करने को प्रेरित हुईं। एक कैथोलिक और पूर्व IRA समर्थक, विलियम्स ने दुर्घटना के अगले दिन सुबह 2:00 बजे तक काम करते हुए उत्तरी आयरलैंड में तत्काल शांति के समर्थन में **6,000 हस्ताक्षर** एकत्र किए।

लन्डनडेरी में एक प्रोटेस्टेंट "नो सरेंडर" के संकेत के नीचे खेलते हुए बच्चों का समूह।



कोरिगन को विलियम्स के प्रयासों का पता चला और उन्होंने उन्हें बच्चों के अंतिम संस्कार में आमंत्रित किया। यद्यपि इससे पहले उत्तरी आयरलैंड में कोई प्रभावी शांति आंदोलन नहीं हुआ था और न ही कोरिगन या विलियम्स को ऐसे आंदोलन को संगठित करने का कोई अनुभव था, फिर भी उन्होंने अपने देश में लड़ाई रोकने के लिए एकसाथ काम करने का निर्णय लिया।

"वे हमें संत और पापी दोनों कहते हैं," बेट्टी विलियम्स (बाएं) ने मज़ाक में कहा, जब वह नरम दिल वाली मैरेड कोरिगन (दाएं) और अपने बारे में बात कर रही थीं।





कई मायनों में, ये दोनों महिलाएँ एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत थीं। कोरिगन अधिक पारंपरिक शांतिवादी थीं—दयालु, धार्मिक और लगभग हर स्थिति में अच्छाई देखने वाली। दूसरी ओर, विलियम्स ने स्वयं को “आपके जीवन में मिलने वाली सबसे आक्रामक व्यक्ति” और “ज़रा भी अच्छी नहीं” बताया है। उनका कठोर और जिद्दी स्वभाव कठिन समय में उनके उद्देश्य को आगे बढ़ाने में सहायक रहा।

कोरिगन और विलियम्स को लोगों को शांति योजना के साथ जोड़ने से पहले ही एक बेहद कठिन समस्या का सामना करना पड़ा। कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों को अलग करने वाली दीवारें इतनी मोटी हो चुकी थीं कि उन्हें हिलाना लगभग असंभव लग रहा था।

दोनों पक्षों के लिए, वर्षों से उग्रवादियों के हाथों हुए भयावह नुकसानों ने युद्ध जैसी मानसिकता पैदा कर दी थी, और नफ़रत किए जाने वाले दुश्मन के साथ बैठकर बात करने का विचार तक देशद्रोह जैसा लगता था।

इन परिस्थितियों से निपटने के लिए दोनों महिलाओं ने समझा कि उनके प्रयासों को संगठित धर्म या राजनीति से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रखना चाहिए।

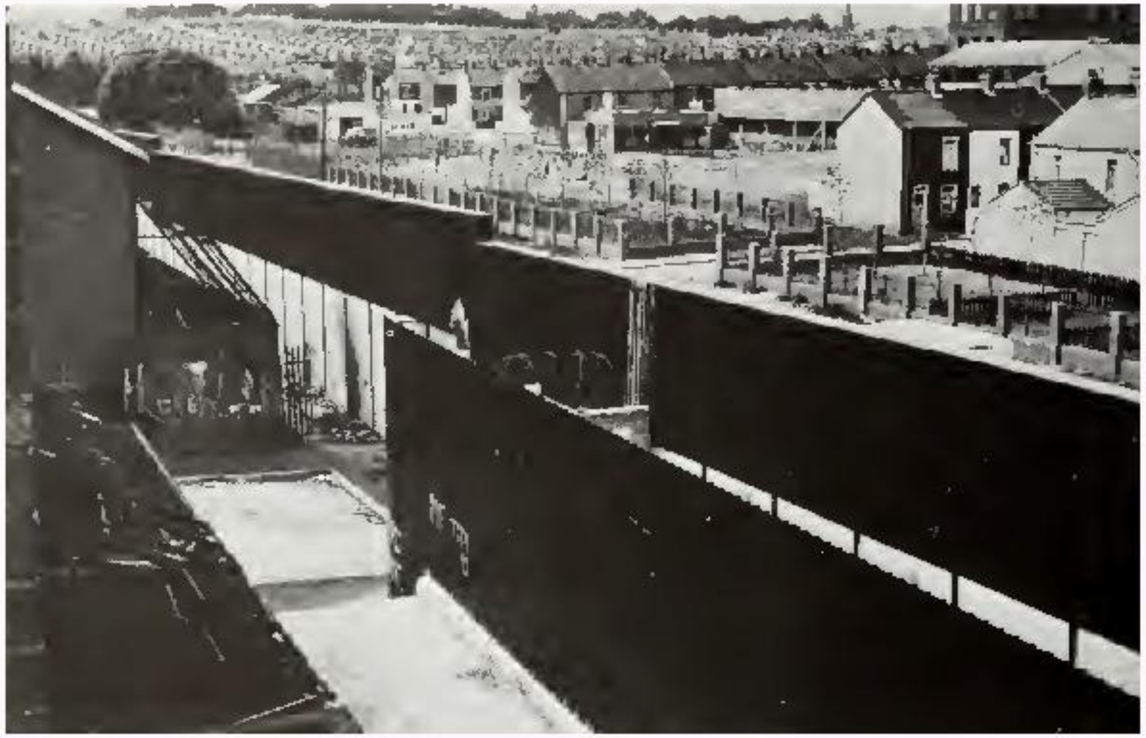
ऐसा लग रहा था कि उनका पहला प्रदर्शन—अर्धसैनिक संगठनों की गतिविधियों के विरोध में 50 कैथोलिक महिलाओं का मार्च—असफल हो जाएगा, क्योंकि उसमें कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों का वह आवश्यक मिश्रण शामिल नहीं था।

लेकिन पत्रकार सियारन मैक्यून की मदद से विलियम्स और कॉरिगन ने दोनों पक्षों के लोगों को बेलफास्ट—उत्तरी आयरलैंड की राजधानी—में उनके मार्च में शामिल होने का निमंत्रण दिया। भले ही मार्च कैथोलिक इलाकों से होकर गुज़रा, फिर भी कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट दोनों इसमें शामिल हुए, और संख्या बढ़कर 10,000 हो गई—अधिकतर महिलाएँ।

गैर-सांप्रदायिक भजनों और प्रार्थनाओं के साथ, प्रदर्शनकारी साहसपूर्वक आगे बढ़ते रहे, यहाँ तक कि जब उग्रवादियों की बढ़ती भीड़ ने उनका रास्ता रोक दिया। कई मार्च करने वालों पर मुट्ठियों, पत्थरों और लाठियों से हमला हुआ—अधिकतर उन किशोरों द्वारा, जिन्हें केवल “दूसरे पक्ष” से नफ़रत करना ही सिखाया गया था। लेकिन “पीस पीपल”, जैसा कि वे स्वयं को कहने लगे, डराकर सड़कों से हटाए नहीं जा सके।



बेट्टी विलियम्स (काले चश्मे में) और सियारन मैक्यून 1976 की लंदन रैली में पीस पीपल के साथ चलते हुए



काँटेदार तारों से घिरी यह दीवार बेलफास्ट के कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट इलाकों को विभाजित करती है

वे मार्च करते और गाते रहे, जबकि कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट दोनों अपने साथी प्रदर्शनकारियों की रक्षा करने की पूरी कोशिश करते रहे। उनका साहस देखकर कुछ हमलावर अपराध-बोध से भर गए और अंततः मार्च में शामिल हो गए।

बाधा को पार करना

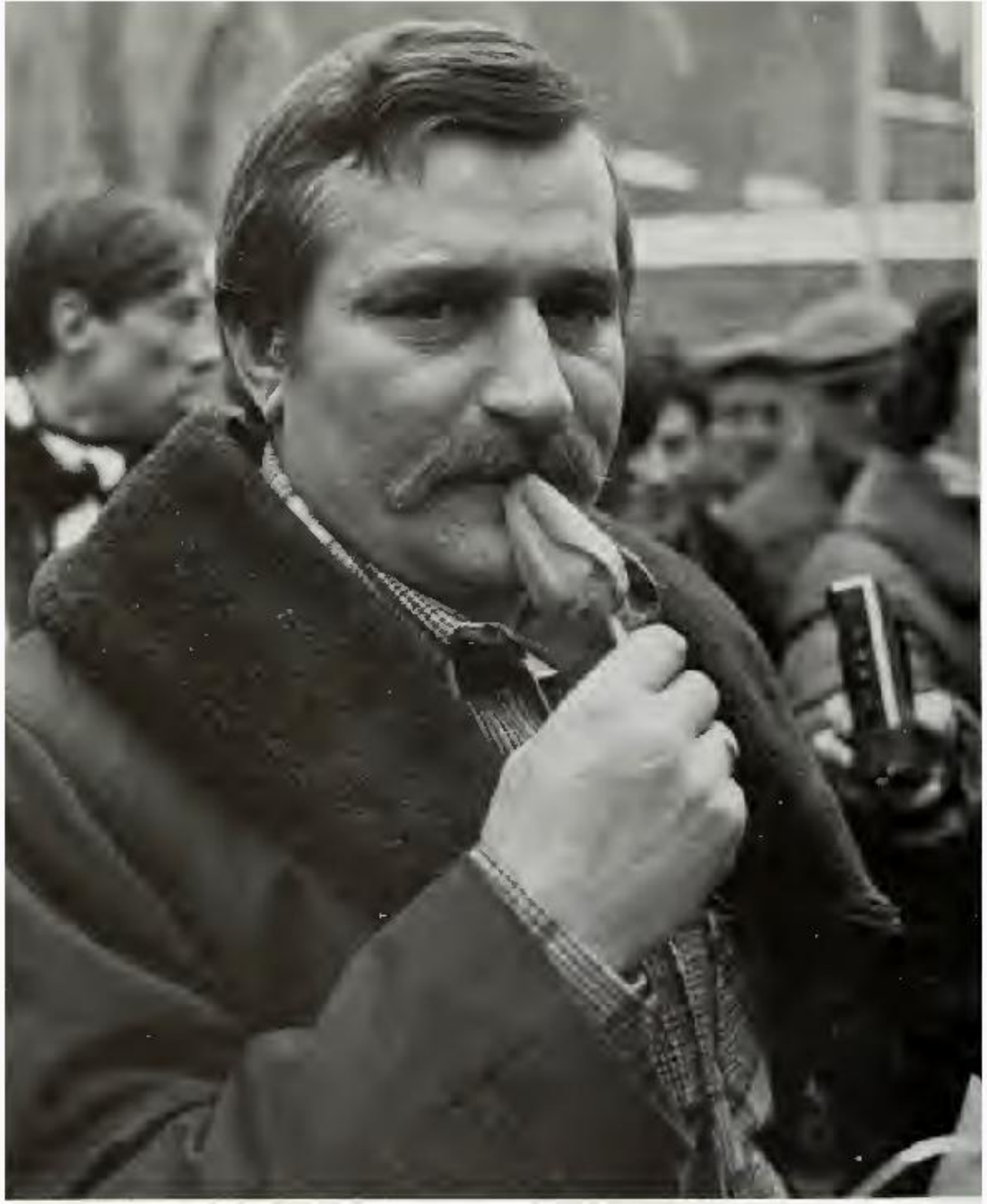
अगला कदम उस दीवार को पार करना था जो कैथोलिक बेलफास्ट को प्रोटेस्टेंट इलाकों से अलग करती थी—एक ऐसा क्षेत्र जहाँ दिन के उजाले में भी जाने की हिम्मत कम लोग करते थे। फिर भी 35,000 से अधिक कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट स्वयंसेवकों ने यह चुनौती स्वीकार की। अगले कुछ महीनों में विलियम्स और कॉरिगन ने हर सप्ताह एक प्रदर्शन आयोजित किया। 20,000 से अधिक लोग लन्डनडेरी में मार्च में शामिल हुए—जो उत्तरी आयरलैंड का सबसे अधिक विभाजित शहर था—और 30,000 लोगों ने आयरलैंड गणराज्य की राजधानी डबलिन में मार्च किया।

हालाँकि कई शांति प्रदर्शनकारी चोटों के साथ लौटे, लेकिन उन्होंने एक अमूल्य सबक भी सीखा। बहुतों के लिए यह पहली बार था जब वे दूसरे धर्म के किसी व्यक्ति से वास्तव में मिले थे। मार्च आँसुओं और गले मिलने के साथ समाप्त होते, जब प्रदर्शनकारियों को एहसास हुआ कि उनमें कितनी समानताएँ हैं।

विलियम्स और कॉरिगन को कई लोगों ने गद्दार माना और उन्होंने भारी अपमान सहा। लेकिन यहाँ तक कि जब विलियम्स और उनके बच्चों को पीटा गया, तब भी उन्होंने सुरक्षा प्रस्ताव ठुकरा दिए। एक बम धमकी पर, जो उन्हें रात 1 बजे फोन पर मिली, विलियम्स ने रूखेपन से जवाब दिया, “जल्दी करो, ताकि मैं सो सकूँ।”

मार्च 1977 के अंत तक, पीस पीपल ने अपनी शांति घोषणा पर 3,00,000 से अधिक हस्ताक्षर जुटा लिए थे। कॉरिगन और विलियम्स अमेरिका भी गए और वहाँ के नागरिकों से अर्धसैनिक संगठनों को पैसा भेजना बंद करने की अपील की। जनता का ध्यान आकर्षित करने के बाद उन्होंने सुर्खियाँ बटोरने वाली रैलियाँ रोक दीं और शांति नेटवर्क को संगठित करने के कठिन काम में जुट गए। 8,000 स्वयंसेवकों और 110 शांति समितियों के साथ, एक जमीनी अभियान शुरू किया गया ताकि लोग अपने संकुचित इलाकों से बाहर निकलें और “दुश्मन” को जानें। समितियों ने दंगों से प्रभावित इलाकों में व्यापार शुरू करने और आर्थिक अवसर देने को प्रोत्साहित किया। एक सफल उदाहरण में, एक महिला ने ऐसे इलाके में स्टेशनरी और चमड़े के सामान की फैक्टरी खोली, जहाँ कोई और निवेश करने को तैयार नहीं था।

उत्तरी आयरलैंड में शांति के लिए काम करना संभव बनाने के उनके प्रयासों के लिए, मैरीड कॉरिगन और बेट्टी विलियम्स को 1976 का नोबेल शांति पुरस्कार दिया गया। उनके देश में संघर्ष अब भी समाप्त नहीं हुआ है, लेकिन इन महिलाओं ने अपनी लड़ाई छोड़ी नहीं है। शांति की लड़ाई में पूर्ण विजय दुर्लभ होती है। फिर भी, दुनिया भर के कई खूनी गुरिल्ला अभियानों की तरह, कॉरिगन, विलियम्स और उनके “शांति के गुरिल्ले” विरोधी शक्तियों से अधिक समय तक टिके रहने की आशा रखते हैं।



हमेशा की तरह एक आम मज़दूर की तरह कपड़े पहने, पोलिश मज़दूर नेता लेक वालेसा एक समर्थक द्वारा फेंका गया फूल पकड़े हुए हैं।

7

लेक वालेसा

बनाम पार्टी बॉस

इतिहास के निर्णायक मोड़ हमेशा पैदल सेना के हमले की हताशा, नाज़ुक वार्ताओं की तीव्रता या दंगे की उग्रता से ही नहीं आते। कभी-कभी पूरे राष्ट्र की किस्मत एक ऐसे मामूली से काम से बदल जाती है, जैसे बीयर का गिलास खत्म करने में कुछ ज़्यादा समय लग जाना।

1967 में, पोलैंड के छोटे शहर लोचोचिन में रहने वाला 24 वर्षीय बेचैन युवक गैरेज मैकेनिक के रूप में गुज़ारा करने से ऊब गया। यह सुनकर कि देश के अन्य हिस्सों में बेहतर अवसर हैं, लेक वालेसा ने ग्दीन्या शहर के लिए ट्रेन पकड़ी। हमेशा की तरह साधारण मज़दूरों के कपड़े पहने हुए, पोलिश श्रमिक नेता लेक वालेसा एक समर्थक द्वारा फेंका गया फूल थामे हुए हैं। अपने गंतव्य तक पहुँचने से पहले ट्रेन ग्दांस्क शहर में थोड़ी देर रुकी—एक समुद्री महानगरीय क्षेत्र, जहाँ लगभग 8,50,000 लोग रहते थे।

वालेसा ने सोचा कि आगे बढ़ने से पहले बीयर का एक गिलास पीने का समय है। लेकिन उनका अनुमान गलत निकला और ट्रेन स्टेशन से निकल गई—बिना उनके। अगली ट्रेन का इंतज़ार करने के बजाय, वह ग्दांस्क में ही रुक गए और विशाल लेनिन शिपयार्ड में काम मिल गया।

वह निर्णायक फैसला तीन साल बाद उन्हें तूफ़ान के केंद्र में ले आया। 12 दिसंबर 1970 को, जब पोलैंड में लोग क्रिसमस की तैयारी कर रहे थे, सरकार ने एक घोषणा की जिसने उत्साह ठंडा कर दिया—खाद्य पदार्थों की कीमतें तुरंत दोगुनी कर दी गईं।

इस अचानक आई मुश्किल से स्तब्ध 10,000 गुस्साए मजदूर ग्दांस्क की सड़कों पर उतर आए। मजदूरों के नेताओं में से एक वालेसा ने शांति बनाए रखने की अपील की, लेकिन अंततः विरोध दंगे में बदल गया। तीन दिनों के दंगों के अंतिम दिन सैनिकों ने प्रदर्शनकारियों पर गोली चला दी, जिसमें चार लोग मारे गए। अपने साथियों को सड़कों पर मरते देखने के बाद लेक वालेसा कभी पहले जैसे नहीं रहे।



द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी और सोवियत संघ द्वारा पोलैंड के बड़े हिस्से—जैसे यह वारसॉ—को मलबे में बदल दिया गया

दुर्भाग्य का बादल

यह घटना साबित करती है कि 966 ईस्वी में वैटिकन द्वारा पोलैंड को राष्ट्र के रूप में मान्यता मिलने के बाद से उसके ऊपर छाया दुर्भाग्य का बादल अब तक नहीं छँटा है।

जर्मनी और रूस के बीच उपजाऊ कृषि भूमि वाले क्षेत्र में स्थित पोलैंड ने हमेशा लालची पड़ोसियों की सेनाओं को आकर्षित किया है। पहाड़ों, बड़ी नदियों या रेगिस्तानों जैसी प्राकृतिक बाधाओं के अभाव में, पोलैंड जर्मनी और सोवियत संघ के बीच फँस गया। एक कब्ज़ा हटता, तो दूसरा आ जाता।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद पोलैंड को स्वतंत्रता मिली, लेकिन द्वितीय विश्व युद्ध में उसका फिर से बँटवारा हुआ। पहले नाज़ी जर्मनी और फिर सोवियत संघ ने कब्ज़ा किया, जिसने पोलैंड में कम्युनिस्ट सरकार स्थापित करने में मदद की। तब से पोलैंड सोवियत प्रभुत्व में रहा। कम्युनिस्ट पार्टी "बॉसों" द्वारा चलाए गए शासन ने पोलों से कई स्वतंत्रताएँ छीनीं, उन्हें सोवियत आक्रमणकारियों के स्मारक बनाने पर मजबूर किया और एक अत्यंत धार्मिक समाज को उसके रोमन कैथोलिक चर्च से अलग करने की कोशिश की। भारी कुप्रबंधन ने लगभग 4 करोड़ जनसँख्या वाले इस कभी समृद्ध राष्ट्र को गंभीर आर्थिक संकट में डाल दिया।

लेक वालेसा के आने से पहले, पोलैंड में व्यक्तियों—खासकर मजदूरों—के अधिकारों की रक्षा का कोई रास्ता नहीं था। वालेसा का जन्म 1943 में पोपोवो में हुआ। उनके पिता, एक बढ़ई, जर्मनों द्वारा पीटे जाने और कठोर श्रम में झोंक दिए जाने के बाद मारे गए। वह उत्पीड़ित लोगों की पीड़ा समझते थे। वे शानदार छात्र नहीं थे, लेकिन साहसी थे। सेना में अनिवार्य दो वर्षों की सेवा के बाद अधिकारियों ने उनकी नेतृत्व क्षमता देखकर उन्हें प्रशिक्षण कार्यक्रम में लेना चाहा, पर उन्होंने मना कर दिया और मजदूर वर्ग में रहना चुना।

ग्दांस्क शिपयार्ड में इलेक्ट्रीशियन के रूप में काम करते हुए उनके नेतृत्व गुण उभर आए। वे निरीक्षक बने, जिससे उन्हें हर जगह जाने और हर किसी से बात करने की आज़ादी मिली। 1970 के दंगों के बाद सरकार ने उनकी निगरानी की और उन्हें मुखबिर बनाने की कोशिश की, लेकिन उन्होंने मना कर दिया। 1976 में एक सार्वजनिक विरोध के बाद उन्हें नौकरी से निकाल दिया गया। शादीशुदा वालेसा को "उपद्रवी" कहकर काम नहीं दिया गया। अस्थायी नौकरियाँ मिलतीं और विवादास्पद राय रखने पर वे फिर निकाल दिए जाते।

सरकारी अधिकारियों को, जिन्हें 1970 के दंगों के बाद वालेसा के बढ़ते असर का पता चला, उन्होंने उस पर नज़र रखी और उसे एक मुखबिर के तौर पर भर्ती करने की भी कोशिश की। वालेसा ने मना कर दिया और सरकार की मज़दूरों के प्रति चिंता की कमी के बारे में बोलना शुरू कर दिया। 1976 में ऐसे ही एक पब्लिक प्रोटेस्ट के बाद, उसे नौकरी से निकाल दिया गया। वालेसा, जो अब शादीशुदा था, अपने बढ़ते परिवार को सपोर्ट करने के लिए काम ढूंढने की कोशिशों में लगातार "ट्रबलमेकर" कहकर टाल दिया जाता था। मैकेनिक के तौर पर कई महीनों तक पार्ट-टाइम काम करने के बाद, उसे एक नई नौकरी मिल जाती, फिर एक विवादित राय देने के लिए उसे नौकरी से निकाल दिया जाता। हालांकि मालिकों ने वालेसा की तारीफ़ नहीं की, लेकिन कई आम लोगों ने की।



ग्दांस्क के लेनिन शिपयार्ड में हड़ताल पर बैठे मजदूर —पास में सोवियत और पोलिश झंडों वाला पोस्टर

नौकरी बनाए रखने में अपनी दिक्कतों के बावजूद, वालेसा फ्री ट्रेड यूनियन मूवमेंट में एक्टिव रहे, जो एक अंडरग्राउंड ऑर्गनाइज़ेशन था जो दूसरी चीज़ों के अलावा मज़दूरों के अधिकारों के लिए समर्पित था, और उन्हें कई मीटिंग और रैलियों को एड्रेस करने के लिए कहा गया।

सॉलिडैरिटी

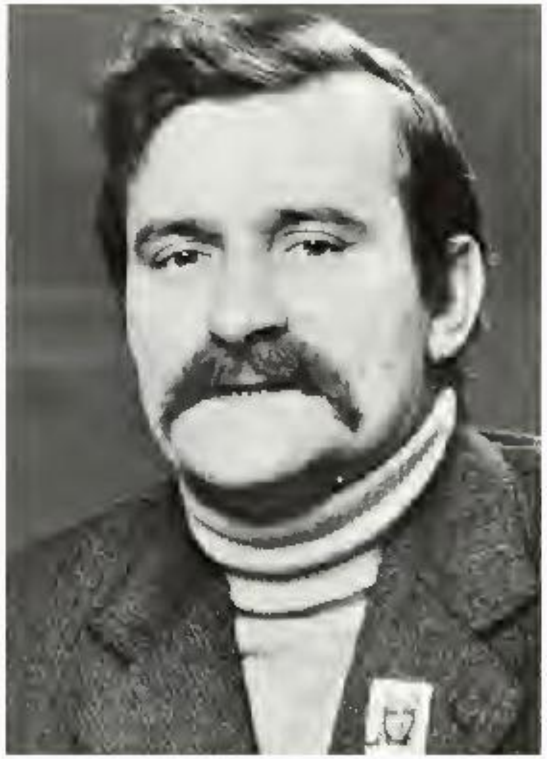
जुलाई 1980 में सरकार ने फिर खाद्य कीमतें बढ़ाने की घोषणा की। इसे पोलों ने भ्रष्टाचार और अक्षमता का परिणाम माना। पूरे देश में हड़तालें शुरू हो गईं। उसी समय, लेनिन शिपयार्ड में एक महिला को सेवानिवृत्ति से पाँच महीने पहले बीमारी के कारण छुट्टी लेने पर निकाल दिया गया।

अब मजदूरों के खड़े होने का समय आ गया था। बेरोज़गार वालेसा—पत्नी और छह बच्चों की ज़िम्मेदारी के साथ—6,000 उत्साहित मजदूरों के सामने आए और हड़ताल की घोषणा की। 1970 की त्रासदी को याद रखते हुए उन्होंने अनुशासन पर ज़ोर दिया; शराब तक प्रतिबंधित की गई। जल्द ही सरकार झुक गई—वेतन बढ़े और महिला व वालेसा को नौकरी लौटी। लेकिन छोटे समूहों को कठिनाई थी, इसलिए शिपयार्ड मजदूर फिर हड़ताल पर गए।

धीरे-धीरे पूरे देश के मजदूर एक संगठन में एकजुट हुए—सॉलिडैरिटी। वालेसा 1 करोड़ से अधिक पोलों की आवाज़ बने। उनका घर गतिविधियों का केंद्र बन गया। सोवियत समर्थित सरकार के सामने खड़े होकर उन्होंने असंभव चुनौती ली। उनके आत्मविश्वास ने लोगों को उनकी ओर खींचा। साधारण पहनावा और झबरीली मूँछों के साथ वे कोई नायक जैसे नहीं दिखते थे। टोके जाने पर वे कहते, "मैं मज़दूर हूँ और वैसे ही कपड़े पहनूँगा।"

वालेसा ने मीडिया का ध्यान खींचा, लोगों का आत्मविश्वास बढ़ाया और सरकार के कुप्रबंधन पर दबाव डाला।

लेक वालेसा



वार्ताओं में वे दबाव के आगे नहीं झुके। साथ ही उन्होंने अपने समर्थकों को हिंसा से रोका। उनका लक्ष्य सुधार था, विनाश नहीं—एक ऐसा पोलैंड जहाँ "देशभक्ति, शांति, ज़िम्मेदारी, विवेक और व्यवस्था" हो।

गर्मी के अंत तक सॉलिडैरिटी ने बड़ी जीत हासिल की—मुक्त भाषण, स्वतंत्र यूनियनें और बेहतर वेतन; साथ ही 11 में से 6 शीर्ष नेता हटाए गए। वालेसा प्रसन्न होकर उछल पड़े और ख़ुशी के आंसू बहाते हुए उन्होंने एक रैली में सामूहिक राष्ट्रगान गाया।

एक कदम ज़्यादा

एक बार जब उन्हें थोड़ी आज़ादी का स्वाद चखने को मिला, तो सॉलिडैरिटी के कुछ सदस्यों की भूख और बढ़ गई। अगले 16 महीनों तक, वालेसा को अपनी यूनियन के अंदर के कट्टरपंथियों और आंदोलन को कुचलने पर तुले सरकारी अधिकारियों के बीच मुश्किलों का सामना करना पड़ा। कई बार उन्हें अपने गुस्सैल दोस्तों पर लगाम लगानी पड़ी।

उदाहरण के लिए, जब सोवियत सैनिकों के एक स्मारक पर सफेद पेंट पोत दिया गया, तो वालेसा ने खुद गंदगी साफ करने की पेशकश की। उन्होंने हिंसा के खिलाफ तर्क दिया, राष्ट्रीय मेल-मिलाप की अपील की, और कभी-कभी किसी मुद्दे पर ज़ोर देने के बजाय सरकार से समझौता कर लिया। कभी-कभी, यूनियन की आधिकारिक मंज़ूरी के बिना सॉलिडैरिटी के लिए डील करने के लिए उन्हें डांटा भी गया।

अगले 16 महीनों तक उन्हें कट्टरपंथियों और सरकार के बीच संतुलन साधना पड़ा। कभी-कभी समझौते करने पड़े। फिर भी, जब ज़रूरी लगा, उन्होंने सरकार को चुनौती दी—छह-दिवसीय कार्य-सप्ताह रोका, मूल्य-वृद्धि के विरोध में नाकेबंदी का समर्थन किया, प्रेस पर दबाव का विरोध किया और बाइडगोश्च में हुई सॉलिडेरिटी के सदस्यों की पिटाई की जाँच करवाई।

दिसंबर 1981 में, कुछ अतिआत्मविश्वासी सदस्यों द्वारा राष्ट्रीय जनमत संग्रह की माँग ने संतुलन बिगाड़ दिया। जनरल वोज्चेख यारुज़ेल्स्की की प्रतिक्रिया कठोर थी—अगले ही दिन सॉलिडैरिटी के दफ्तरों पर छापे पड़े, फोन काटे गए और वालेसा सहित नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया।

जारुज़ेल्स्की द्वारा पोलैंड में मार्शल लॉ घोषित किए जाने पर टैंक सड़कों पर गरजते हुए निकल पड़े। वालेसा को 11 महीनों तक हिरासत में रखा गया। यह जानते हुए कि लगभग 10 में से 9 पोल नागरिक सॉलिडैरिटी का समर्थन करते थे, सरकार ने उनकी प्रतिष्ठा धूमिल करने की कोशिश की। अफ़वाह फैलाई गई कि वालेसा ने यूनियन के धन का अपने निजी कामों में इस्तेमाल किया है और वह कर-चोर हैं। जेल से रिहा होने के बाद उनके यात्रा अधिकार सीमित कर दिए गए और पुलिस को उनकी हर गतिविधि पर नज़र रखने के लिए तैनात कर दिया गया।



हालाँकि सॉलिडैरिटी आंदोलन पर प्रतिबंध लगा दिया गया है, फिर भी स्वतंत्रता की आकांक्षा को दबाया नहीं जा सकता। 1985 में वालेसा दूसरों के साथ आंदोलन की विजय-सलामी देते हुए।

सरकार के तमाम प्रयासों के बावजूद, वालेसा पोलैंड में और दुनिया के कई हिस्सों में आज भी एक नायक बने हुए हैं। उन्हें 1983 में नोबेल शांति पुरस्कार दिया गया, लेकिन उन्होंने इसे स्वीकार करने के लिए नॉर्वे जाने से इनकार कर दिया, क्योंकि उन्हें डर था कि कहीं उन्हें अपने देश लौटने न दिया जाए ।

यद्यपि पोलिश सरकार ने 1982 में सॉलिडैरिटी को गैरकानूनी घोषित कर दिया और बाद में हड़तालों तथा अन्य प्रकार के विरोधों को भी अवैध बना दिया, फिर भी लेक वालेसा पोलैंड के लोगों के लिए स्वतंत्रता, गर्व और—सबसे बढ़कर—आशा के प्रतीक बने हुए हैं।



8

डेसमंड टुटू

बनाम रंगभेद (अपार्थाइड)

ट्रेवर हडलस्टन नामक एक एंग्लिकन पादरी उन सड़कों से होकर गुज़रे जो छोटी-छोटी, जल्दबाज़ी में बनाई गई झोपड़ियों से भरी थीं। जब वह उस झोंपड़ी के पास पहुँचे जहाँ युवा डेसमंड टुटू रहता था, तो उनकी नज़र लड़के की माँ पर पड़ी। डेसमंड अब एक ऐसे अद्‌भुत दृश्य का साक्षी बनने वाला था, जो उसका जीवन बदल देगा। उसकी आँखों के सामने, हडलस्टन ने श्रीमती टुटू को टोपी उतारकर अभिवादन किया।

यह दृश्य डेसमंड की कल्पना से परे था, क्योंकि हडलस्टन श्वेत थे, श्रीमती टुटू अश्वेत थीं, और यह घटना दक्षिण अफ्रीका जैसे देश में घटित हुई थी। यह उस भूमि में हुआ, जहाँ अश्वेत लोग टेलीविज़न को पहली बार देखकर चकित होते थे—नई तकनीक से नहीं, बल्कि इस बात से कि एक श्वेत चेहरा मुस्कराते हुए उन्हें सम्मानजनक स्वर में संबोधित कर रहा है।

डेसमंड टुटू एक अंतिम संस्कार जुलूस में शोकाकुल लोगों के समूह का नेतृत्व करते हुए

हडलस्टन ने टुटू के मन में यह आशा जगाई कि एक दिन दक्षिण अफ्रीका की नस्लवादी नीतियों का अंत हो सकता है, और साथ ही उस लक्ष्य की दिशा में काम करने की महत्वाकांक्षा भी पैदा की।

दुनिया के अधिकांश हिस्सों में नस्लवाद, भेदभाव और अलगाव को घृणित शब्द माना जाता है और लगभग सर्वत्र उनकी निंदा की जाती है, लेकिन दक्षिण अफ्रीका में ये क़ानून हैं। यद्यपि दक्षिण अफ्रीका की आबादी में केवल लगभग 16 प्रतिशत श्वेत हैं और 70 प्रतिशत से अधिक अश्वेत (शेष आबादी एशियाई या मिश्रित वंश की है), फिर भी श्वेत अल्पसंख्यक वर्ग सरकार पर नियंत्रण रखता है। दक्षिण अफ्रीकी सरकार ने अपार्थाइड नामक नीति अपनाई है, जिसका उद्देश्य देश के विभिन्न नस्लीय समूहों को एक-दूसरे से अलग रखना है, और जिसने अश्वेतों को उनके अनेक मानव अधिकारों से वंचित किया है। दक्षिण अफ्रीकी सरकार के समर्थक यह तर्क देते हैं कि मानव अधिकारों के मामले में दुनिया में ऐसी अन्य सरकारें भी हैं जो दक्षिण अफ्रीका से अधिक क्रूर और अत्याचारी हैं।

यह बात शायद सही हो सकती है, लेकिन जो बात दक्षिण अफ्रीका को विशेष आलोचना के योग्य बनाती है, वह यह है कि यह एक समृद्ध, शिक्षित देश है, जो गर्व के साथ स्वयं को "स्वतंत्र" विश्व का हिस्सा बताता है। फिर भी, यह ऐसा एकमात्र देश है जहाँ सरकारी नीतियाँ नस्ल पर आधारित हैं और जहाँ लोगों के साथ अमानवीय व्यवहार को कानून का रूप दे दिया गया है।

"काले लोगों की समस्या" को "सुलझाना"

1900 के दशक के पहले भाग में दक्षिण अफ्रीका में गैर-श्वेत लोगों का जीवन आसान नहीं था; नस्लीय भेदभाव व्यापक था और संपन्न श्वेतों तथा अत्यंत गरीब अश्वेतों के बीच एक गहरी खाई थी। लेकिन 1948 में हालात कहीं अधिक बदतर हो गए, जब नेशनलिस्ट पार्टी सत्ता में आई और उसने रंगभेद (अपार्थाइड) की नीति शुरू की। यह नीति ऐसे कानूनों का समूह थी, जिनका उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि अश्वेतों और श्वेतों के बीच की खाई बनी रहे।

दक्षिण अफ्रीकी सरकार विभिन्न नस्लों को एक-दूसरे से अलग नहीं रख सकती थी, जब तक यह आसानी से पहचाना न जा सके कि कोई व्यक्ति किस नस्ल का है। इसलिए "पास कानून" बनाए गए, जिनका उद्देश्य लोगों को सख्ती से परिभाषित श्रेणियों में बाँटना था। इन कानूनों के अंतर्गत हर व्यक्ति के पास ऐसे दस्तावेज़ होने चाहिए थे, जिनमें उसकी नस्लीय पृष्ठभूमि का विवरण हो। लेकिन केवल अश्वेतों को ही हर समय अपने दस्तावेज़—या पास—साथ रखना अनिवार्य था, अन्यथा उन्हें गिरफ्तार किया जा सकता था।

जैसे ही किसी व्यक्ति को अश्वेत के रूप में चिन्हित किया जाता, वह भेदभाव का शिकार बनने का पात्र बन जाता।

यदि यह साबित हो जाता कि किसी व्यक्ति के किसी भी पूर्वज में, चाहे वह कितना ही दूर का क्यों न हो, गैर-श्वेत रक्त है, तो उस व्यक्ति को "कलर्ड" (मिश्रित नस्ल) घोषित कर दिया जाता और, अश्वेतों की तरह, उसे भी श्वेतों के अधिकार नहीं मिलते थे।

रंगभेद के कानूनों ने गैर-श्वेतों को और कसती हुई बेड़ियों में जकड़ दिया। विभिन्न नस्लों के लोगों को एक ही शहर में रहने की अनुमति नहीं थी, एक ही घर में रहना तो दूर की बात थी, और उन्हें अलग-अलग सार्वजनिक सुविधाओं का उपयोग करना पड़ता था। चूँकि अश्वेत क्षेत्रों में बहुत कम नौकरियाँ उपलब्ध थीं, इसलिए अनेक अश्वेतों को अपने परिवारों से दूर श्वेत शहरों में काम करना पड़ता था। लेकिन वे श्वेतों के पास नहीं रह सकते थे, इसलिए हर शाम पाँच बजे शहर से अश्वेत मजदूरों की एक लंबी कतार निकलती, जो मीलों दूर उनके लिए बनाए गए गंदे बैरकों की ओर जाती थी। जिन मजदूरों के परिवार सैकड़ों मील दूर निर्धारित अश्वेत क्षेत्रों में रहते थे, वे उन्हें अक्सर साल में केवल एक बार, क्रिसमस की छुट्टियों में ही देख पाते थे।

रंगभेद के कानूनों ने सरकार की शक्ति को और बढ़ा दिया, क्योंकि अधिकारियों को अपने विरोधियों के साथ जैसा चाहें वैसा करने की खुली छूट मिल गई। जो कोई भी सरकार के खिलाफ बोलता, उसे देशद्रोही बताकर गिरफ्तार किया जा सकता था। जिन पर सरकार-विरोधी होने का संदेह होता, उन्हें बिना मुकदमे, बिना आरोप लगाए, अनिश्चित काल तक जेल में रखा जा सकता था।

1959 में, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका में गैर-श्वेतों की संख्या श्वेतों से कहीं अधिक थी, सरकार ने अश्वेतों को पुनर्वासित करने की एक विस्तृत योजना बनाई।

दक्षिण अफ्रीका के अश्वेतों को नौ जातीय समूहों में बाँट दिया गया और उन्हें बंजर भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों में बसने के लिए भेज दिया गया। इन क्षेत्रों को "होमलैंड" कहा जाता था। प्रत्येक होमलैंड की अपनी अश्वेत सरकार होती थी, लेकिन अंततः वे सभी श्वेत दक्षिण अफ्रीकी सरकार के नियंत्रण में थीं। इस योजना ने अश्वेतों से पूरे दक्षिण अफ्रीका की सरकार में भाग लेने का अधिकार भी छीन लिया; उन्हें वोट देने तक की अनुमति नहीं थी। हालाँकि 2 करोड़ 40 लाख अश्वेत दक्षिण अफ्रीका की जनसंख्या का 70 प्रतिशत से अधिक थे, लेकिन उनके लिए केवल 13 प्रतिशत भूमि ही निर्धारित की गई थी। अधिक उपजाऊ भूमि का अधिकांश भाग 50 लाख से भी कम श्वेतों के पास चला गया।

इस नीति को लागू करने के लिए अश्वेतों को उनके घरों से उखाड़कर "पैतृक क्षेत्रों" में भेज दिया गया, जिन्हें अधिकांश लोगों ने पहले कभी देखा तक नहीं था। श्वेत दक्षिण अफ्रीका को उम्मीद थी कि ये होमलैंड शेष देश से अपनी स्वतंत्रता घोषित कर देंगे और दक्षिण अफ्रीका श्वेतों के लिए रह जाएगा।

तर्क की अपील

डेसमंड म्पिलो टूटू, जो एक मेथोडिस्ट स्कूल-शिक्षक के पुत्र थे, का जन्म 1931 में दक्षिण अफ्रीका के ट्रांसवाल प्रांत के पश्चिमी भाग में हुआ। स्वीडिश मिशन स्कूल में पढ़ाई करने के बाद उन्होंने एंग्लिकन धर्म अपना लिया, क्योंकि वे ट्रेवर हडलस्टन से अत्यंत प्रभावित थे—वही श्वेत पादरी जिन्होंने श्रीमती टूटू के साथ इतना सम्मानपूर्ण व्यवहार किया था।

डेसमंड टूटू



डेसमंड 17 वर्ष के थे, जब नेशनलिस्ट पार्टी के चुनाव जीतने के साथ उनके लोगों का भविष्य लगभग तय हो गया।

टूटू रंगभेद की समस्याओं से बच निकलने के बहुत करीब आ गए थे—उस एकमात्र तरीके से जिससे अधिकांश दक्षिण अफ्रीकी अश्वेत बच पाते हैं: मृत्यु द्वारा। किशोरावस्था में उन्हें तपेदिक का इतना गंभीर रोग हो गया कि वे लगभग दो वर्षों तक बिस्तर पर पड़े रहे। उस दौरान हडलस्टन—जो तब तक बिशप बन चुके थे और टूटू के मित्र व मार्गदर्शक थे—एक भी दिन ऐसा नहीं जाने देते थे जब वे उनसे मिलने न आए हों।



27 लोगों की पुलिस गोलीबारी में मृत्यु के बाद आयोजित एक अंतिम संस्कार में, टुटू पुलिस और दंगाइयों—दोनों की हिंसा की निंदा करते हैं।

जैसे ही टुटू स्वस्थ हुए, उन्होंने अपनी पढ़ाई पूरी की और फिर तीन वर्षों तक पढ़ाया। 1957 में, जब उन्होंने अश्वेत छात्रों की शिक्षा में सरकार द्वारा किए गए परिवर्तनों पर आपत्ति जताई, तो उन्होंने शिक्षक की नौकरी छोड़ दी और धर्मशास्त्र का अध्ययन शुरू किया। 1961 में उन्हें एंग्लिकन पादरी नियुक्त किया गया। दो वर्षों तक चर्च में काम करने के बाद वे आगे की पढ़ाई के लिए लंदन चले गए। धर्मशास्त्र में स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त करने के बाद, उन्होंने 1967 से 1972 तक दक्षिण अफ्रीका में एक सेमिनरी और एक विश्वविद्यालय में व्याख्यान दिए, और फिर इंग्लैंड लौटकर थियोलॉजिकल एजुकेशन फंड के सह-निदेशक बने।

इंग्लैंड में रहते हुए—अपने देश के नस्लवादी वातावरण से हज़ारों मील दूर—टुटू अंततः इस भावना से पूरी तरह मुक्त हो सके कि वे केवल इसलिए हीन हैं क्योंकि वे अश्वेत हैं। इस बीच, दक्षिण अफ्रीका में सरकारी नीतियों के खिलाफ हिंसक विरोध प्रदर्शन लगातार बढ़ते जा रहे थे।

1975 में, अहिंसा के प्रति दृढ़ संकल्पित टुटू रंगभेद के खिलाफ संघर्ष में शामिल होने के लिए दक्षिण अफ्रीका लौट आए।

हालाँकि दक्षिण अफ्रीकी सरकार की नस्लवादी नीतियों के प्रति गुस्से ने कई लोगों को अहिंसा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता पर पुनर्विचार करने के लिए मजबूर कर दिया था, डेसमंड टुटू अपने रुख पर अडिग रहे। 1976 में बिशप बनने के बाद, उन्होंने गिरजाघर के मंच से अपना अभियान चलाया। अपनी चुटीली हास्य-भावना के लिए प्रसिद्ध, एक प्रभावशाली वक्ता के रूप में उन्होंने स्वतंत्रता का चित्र खींचा, व्यक्ति के मूल्य की वकालत की, और यह दिखाया कि रंगभेद ईसाई धर्म से पूरी तरह असंगत है।

न्याय के लिए टुटू की प्रभावशाली अपीलों ने उन्हें सम्मान दिलाया और साथ ही और भी बड़ी चुनौतियाँ सामने रखीं। 1978 में उन्हें साउथ अफ्रीकन काउंसिल ऑफ चर्चेज़ (SACC) का महासचिव नियुक्त किया गया, जो 1 करोड़ 30 लाख दक्षिण अफ्रीकियों का प्रतिनिधित्व करता है। इस पद के कारण वे आरामदायक आवास पाने के हकदार थे, लेकिन उन्होंने उन्हें ठुकरा दिया और जोहान्सबर्ग के बाहर स्थित अश्वेत बस्ती साउथवेस्ट टाउनशिप (संक्षेप में सोवेटो) की दयनीय परिस्थितियों में अपने समुदाय के साथ रहना चुना।

अन्याय के खिलाफ शांतिपूर्ण संघर्ष में अपनी ऊर्जा लगाते हुए, टुटू ने अपने संगठन को रंगभेद के शिकार लोगों की सहायता के लिए समर्पित किया। ऐसे देश में, जहाँ गिरफ्तार किए गए लोगों को कभी-कभी यातनाएँ दी जाती थीं और मार भी दिया जाता था, SACC ने जेलों में मुलाक़ातें कराने, कानूनी सहायता उपलब्ध कराने, और गिरफ्तार लोगों के परिवारों को आध्यात्मिक तथा आर्थिक समर्थन देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अपने छोटे कद—लगभग 5 फुट 3 इंच—और कोमल स्वभाव के बावजूद, डेसमंड टुटू कमजोर व्यक्ति नहीं हैं। कई बार उन्हें अपने ही समर्थकों का सामना करना पड़ा है, जैसे तब जब उन्होंने अश्वेत स्कूल बहिष्कार को समाप्त करने के लिए श्वेत सरकार के साथ सहयोग किया। लेकिन अधिकतर समय उन्होंने दक्षिण अफ्रीकी सरकार की अन्यायपूर्ण नीतियों के खिलाफ डटकर विरोध किया। कूटनीतिक भाषा में बात छिपाने वालों में से न होते हुए, टुटू ने एक बार श्वेतों से कहा कि देश के इतिहास को देखते हुए यह एक चमत्कार है कि अश्वेत किसी भी श्वेत से बात करने को तैयार हैं। उन्होंने नागरिक अवज्ञा का समर्थन किया और विदेशी देशों से आग्रह किया कि वे किसी भी तरह से दक्षिण अफ्रीकी सरकार पर दबाव डालें। जिन योजनाओं का उन्होंने समर्थन किया, उनमें "डाइवेस्टमेंट" भी शामिल है—अर्थात विदेशी देशों द्वारा दक्षिण अफ्रीकी व्यवसायों या वहाँ कारोबार करने वाली कंपनियों में निवेश बंद करना। यद्यपि वे शांतिपूर्ण परिवर्तन के पक्षधर हैं, टुटू ने चेतावनी दी है कि दक्षिण अफ्रीका के लिए समय तेजी से निकलता जा रहा है और यदि शीघ्र सुधार नहीं किए गए तो देश रक्तपात में डूब सकता है।

इस तरह की बातों ने कई श्वेत दक्षिण अफ्रीकियों को क्रोधित कर दिया है। टुटू को देशद्रोही कहा गया, उनका पासपोर्ट रद्द कर दिया गया, और उन्हें जेल भी जाना पड़ा। 1982 में सरकार ने उन्हें न्यूयॉर्क की कोलंबिया यूनिवर्सिटी से मानद डॉक्टरेट स्वीकार करने की अनुमति नहीं दी, लेकिन यह फैसला उलटा पड़ गया जब विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि स्वयं दक्षिण अफ्रीका आकर उन्हें यह सम्मान प्रदान कर गए।



टुटू दक्षिण अफ़्रीका के प्रधानमंत्री पीटर बोथा से मुलाकात की असफल कोशिश करते हैं। सरकार जितना अधिक टुटू जैसे अहिंसक नेताओं की बात सुनने से इनकार करती है...

दक्षिण अफ़्रीकी सरकार तब भी चुप रही, जब टुटू के शब्दों ने अंतरराष्ट्रीय प्रशंसा अर्जित कर उन्हें 1984 का नोबेल शांति पुरस्कार दिलाया। लेकिन एक सरकार-समर्थक अख़बार ने ताना मारते हुए लिखा कि टुटू "शांति के अलावा हर चीज़ के लिए खड़े हैं।"

धुंधली आशा

डेसमंड टुटू रंगभेद के खिलाफ लड़ने वाले पहले व्यक्ति नहीं हैं, न ही इस संघर्ष के लिए नोबेल शांति पुरस्कार पाने वाले पहले। 1960 में ज़ुलु प्रमुख अल्बर्ट लुथुली को दक्षिण अफ़्रीका के अमानवीय कानूनों के खिलाफ उनके अहिंसक प्रयासों के लिए यह पुरस्कार मिला था।

उनके सबसे साहसी अभियानों में से एक 1952 में पास-कार्ड सम्बन्धी कानूनों के विरोध में किया गया आंदोलन था, जिसमें उन्होंने अपना पास कार्ड जला दिया और दूसरों से भी ऐसा करने का आग्रह किया। लेकिन 1959 में सरकार ने एक कानून का सहारा लेकर—जो किसी भी व्यक्ति को "प्रतिबंधित" करने की अनुमति देता था—उनके प्रयासों को रोक दिया। बिना किसी मुकदमे या औपचारिक आरोप के, लुथुली को लगभग नज़रबंद कर दिया गया।



उन्हें किसी भी बैठक में भाग लेने या अपने घर से बाहर जाने की अनुमति नहीं थी, हालाँकि 1960 में उन्हें नोबेल पुरस्कार स्वीकार करने के लिए नॉर्वे जाने की इजाज़त दी गई। एक ग्रामीण मिशन स्टेशन में अलग-थलग पड़े लुथुली को लगभग भुला दिया गया, और 1967 में उनकी मृत्यु हो गई।

टुटू को चुप कराना शायद इतना आसान नहीं है। जिस सरकार ने प्रमुख लुथुली को गुमनामी में धकेल दिया था, वह टुटू के बढ़ते प्रभाव को रोक नहीं सकी। 1984 में उन्हें जोहान्सबर्ग का एंग्लिकन बिशप नियुक्त किया गया—दक्षिण अफ़्रीका का सबसे बड़ा शहर। केवल दो वर्ष बाद, 1986 में, टुटू दक्षिण अफ़्रीका के पहले अश्वेत एंग्लिकन आर्चबिशप बने।

जब अशांति हिंसा में बदलती जा रही थी और केवल 1985 में ही पुलिस टकरावों तथा जातीय संघर्षों में 1,000 से अधिक लोग मारे गए थे, तब टुटू जैसी शांत आवाज़ की अत्यंत आवश्यकता थी। बैंगनी वस्त्र पहने यह छोटा-सा व्यक्ति दंगा-ग्रस्त बस्तियों से होकर गुज़रा, ताकि मदद कर सके। रंगभेद समाप्त न होने पर आने वाली हिंसा की कड़ी चेतावनी देते हुए भी, टुटू जहाँ संभव हुआ वहाँ हिंसा को रोकते रहे। कई बार उन्होंने अपने शरीर से हमलावर भीड़ से किसी व्यक्ति को बचाया, और एक संभावित घातक घटना में उन्होंने शांति से समझौता कराकर पुलिस और आक्रोशित अंतिम-संस्कार में जुटी भीड़ के बीच टकराव को टाल दिया।

आर्चबिशप टुटू की सलाह है कि चिंतित लोग प्रार्थना करें, स्वयं को जानकारी से लैस करें, दक्षिण अफ़्रीका से जुड़े हर अंतरराष्ट्रीय संस्थान पर दबाव डालें, और अपने समाजों में मौजूद अन्याय को पहचानें। टुटू के अनुसार, यही उपाय शांति की एकमात्र आशा हैं। उनके तर्कों को नज़रअंदाज़ करने की कीमत पहले ही दिखाई देने लगी है—दक्षिण अफ़्रीकी अश्वेत युवाओं की बढ़ती संख्या, जिनका अहिंसा के संदेश से धैर्य टूटता जा रहा है। फिर भी, डेसमंड टुटू इस आशा को थामे हुए हैं कि एक दिन वे—एक अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित व्यक्ति, जिन्होंने अपने शांतिपूर्ण शब्दों और कर्मों से अनेक लोगों को प्रेरित किया है—अपने ही देश में वोट देने का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

लेखक के बारे में

नाथन आसेंग, जिनका पालन-पोषण मिनेसोटा के उपनगरीय क्षेत्र मिनियापोलिस में हुआ, युवा पाठकों के लिए लिखी गई पुस्तकों के एक व्यापक रूप से प्रकाशित लेखक हैं। उन्होंने रुचि के कई विस्तृत क्षेत्रों का अन्वेषण किया है—कॉलेज में उन्होंने अंग्रेज़ी और जीवविज्ञान में प्रमुख विषय लिए, और एक माइक्रोबायोलॉजिस्ट तथा जैव-रसायनविद् के रूप में कार्य का अनुभव भी प्राप्त किया। अब पूर्णकालिक लेखक के रूप में, आसेंग विभिन्न विषयों में गहराई से लेखन करते रहे हैं और खेल रणनीति, जीवनी, प्रेरणा तथा कथा साहित्य जैसे क्षेत्रों में उनकी 50 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। वर्तमान में वे अपनी पत्नी और चार बच्चों के साथ विस्कॉन्सिन के ओ क्लेयर शहर में रहते हैं।


PEACE